प्रकाशक
नेशनल प्रेस
प्रयाग

पंचम संस्करण
मूल्य २॥)
६ म ६५१

मुद्रक—
मुन्शी रमज़ान अली शाह
नेशनल प्रेस
प्रयाग

लेख-सूची

यह सङ्कलन

इंटरमीजिएट की अंग्रेजी और हिंदी की कक्षाओं को पढ़ाते समय पिछले कुछ वर्षों में मैंने यह अनुभव किया है कि हिन्दी के संकलन अंग्रेजी के संकलनों से बहुत पीछे रहते हैं और इसी कारण विद्यार्थियों को हिन्दी साहित्य के गौरव का आभास नहीं हो पाता। हिन्दी गद्य की पाठ्य-पुस्तकों में यह वैषम्य अधिक दिखलाई पड़ता है। इसका एक कारण तो यह है कि आधुनिक हिन्दी का गद्य साहित्य डेढ़ सौ वर्षों से अधिक पुराना नहीं है और न विषय-वैभिन्न्य और शैलियों की दृष्टि से उतना धनी है, जितना अंग्रेजी साहित्य। परन्तु इसका एक कारण संकलन कर्ताओं का प्रमाद भी है। हिन्दी गद्य में नवीन विषयों और नई-नई गद्य-शैलियों का विकास बीसवीं शताब्दी के पिछले बीस-पच्चीस वर्षों में हुआ है और अपनी रूढ़वादिता और प्राचीनता-प्रियता के कारण संकलन-कर्ता नये गद्य-लेखकों को पाठ्य-पुस्तकों में स्थान नहीं देते।

प्रस्तुत सङ्कलन में इस त्रुटि को दूर करने की चेष्टा की गई है। नगेंद्र, शिवदानसिंह चौहान, डा० रघुबीरसिंह और महादेवी वर्मा प्रभृति कुछ नये शैलीकारों की रचनाओं का समावेश इसमें हो सका है। गद्य-शैली के विकास का ध्यान रखते हुए भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र,

और बालकृष्ण भट्ट उन्नीसवीं शताब्दी का प्रतिनिधित्व करते हैं। द्विवेदी युग की गद्य-शैली की झलक माधवप्रसाद मिश्र, स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास और रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में मिलेगी। गुलाबराय और बख्शी द्विवेदी-युग और समसामयिक युग के बीच की कड़ी हैं। अन्य लेखकों की रचनाएँ हमारे अपने युग की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी और शिवदानसिंह की गम्भीर, विवेचनात्मक शैलियाँ, डा० वर्मा की वैज्ञानिक सूत्र-शैली और नगेन्द्र की सरल हास-परिहासपूर्ण समीक्षा शैली हमारे गम्भीर साहित्य की सर्वोत्तम निधियाँ हैं। भावुकता-प्रधान शैली में वियोगी हरि बेजोड़ हैं और काव्यात्मक लाक्षणिक शैलियों के अनेक रूप राय कृष्णदास, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, डा० रघुवीर सिंह और महादेवी वर्मा की रचनाओं में मिलते हैं। ओज प्रधान आदेशात्मक शैली का प्रतिनिधित्व करने वाली सम्पूर्णानन्द की एक रचना भी संग्रहीत है।

मूल रूप से शैलियों का प्रतिनिधित्व करने पर सङ्कलित रचनाओं में विषय की उपयोगिता और विषय-वैभिन्य का ध्यान रखा गया है। जहाँ विचारात्मक और साहित्य काव्य कला सम्बन्धी विवेचनात्मक निबन्धों का संग्रह है, वहाँ भावात्मक गद्य-गीत एवं व्यास और तरंग शैली की भाव-प्रधान रचनाएँ भी हैं। कहानी, उपन्यास और नाटक के क्षेत्र से शैलियों के अनेक उदाहरण लिये जा सकते थे, परन्तु इनकी प्रतिनिधि रचनायें स्वतन्त्र पुस्तकों के रूप में अलग से संकलित होने के कारण इस सङ्कलन में इन्हें स्थान नहीं दिया गया है।

सङ्कलन-कर्ता उन विद्वानों और प्रकाशकों का आभारी है जिनकी

रचनाएँ इस सङ्कलन में संग्रहीत हैं। आशा है, इस सङ्कलन के द्वारा हिन्दी का विद्यार्थी उनकी शैलियों से परिचित हो सकेगा और उसके हृदय में अपनी मातृभाषा और उसके लेखकों के प्रति सम्मान की भावना जाग्रत होगी।

'परिचय' और 'परिशिष्ट' की सामग्री सङ्कलन को सुबोध बनाने में सहायक होगी, ऐसा सङ्कलन-कर्त्ता का विश्वास है।

—संकलन-कर्त्ता

परिचय

आधुनिक साहित्य में गद्य का महत्व

साहित्य के दो सर्वमान्य रूप गद्य और पद्य हैं और इन्हीं के अन्तर्गत साहित्य के सारे प्रकार-भेद आ जाते हैं। साहित्य के विकास-क्रम में पद्य का स्थान पहले आता है। इसका कारण यह है कि प्राचीन काल में साहित्य को सुरक्षित रखने की बड़ी भारी समस्या थी और गीतात्मक एवं छंदबद्ध होने के कारण पद्य को कंठगत करना अपेक्षाकृत सरल था। छापे की कला के विकास से पहले का संसार का लगभग सारा साहित्य पद्य-रूप में ही मिलता है। आधुनिक युग में साहित्य को कंठगत रूप से सुरक्षित रखने की आवश्यकता नहीं रही और मनुष्य के जीवन में अनेक ऐसे तत्वों का प्रवेश हुआ जो गद्य द्वारा ही सुगमता से प्रकाशित हो सकते थे। इसी से गद्य के अनेक भेदों का विकास हुआ। निबन्ध, नाटक, उपन्यास, कहानी, रेखाचित्र, रिपोर्टाज, एकांकी इत्यादि गद्य के अनेक रूप आज के साहित्य में प्रचलित हैं।

१८०० ई० से पहले अधिकांश हिन्दी साहित्य भी पद्य में है। उन्नीसवीं शताब्दी में हमारे साहित्य में युगान्तरकारी परिवर्तन हुये। इनमें सबसे बड़ा परिवर्तन खड़ी बोली गद्य क व्यापक प्रयोग और उसके अनेक रूपों

का विकास था। सच कहा जाये तो हमारे नवयुग का साहित्य गद्य का साहित्य है और शताब्दियों तक पद्य-द्वारा साहित्य का जो नेतृत्व होता रहा है वह समाप्त हो गया है। जीवन की जितनी विविधताओं, जितनी विभिन्न अनुभूतियों और जितने विरोधी विचारों को आज गद्य प्रकट कर रहा है उतना पद्य के लिए कभी सम्भव नहीं रहा। आज का युग गद्य का युग है।

हिंदी गद्य का आविर्भाव

१४ वीं शताब्दी के पूर्व का हिन्दी गद्य लगभग अप्राप्य है। इस समय साहित्य की सामान्य भाषा डिंगल (साहित्यिक राजस्थानी) थी। कुछ शिलालेख और सनदें इस भाषा में मिलती हैं, परन्तु विद्वानों को इनकी प्रामाणिकता में सन्देह है। हिन्दी गद्य के सबसे प्राचीन लेखक गोरखनाथ कहे जाते हैं और लगभग १३५० ई० के कुछ गोरखपन्थी गद्य ग्रंथ भी प्राप्त हैं जिनकी भाषा डिंगल-मिश्रित ब्रजभाषा है।

१४ वीं शताब्दी के बाद हिन्दी गद्य ब्रजभाषा, डिंगल और हिन्दवी (खड़ी बोली का प्राचीनतम रूप) में लिखा गया। राजस्थानी गद्य में इस काल में बहुत सी रचनाएँ हुईं जो अधिकांश 'ख्यातों' और 'बातों' के रूप में हैं। 'ख्यातें' और 'बातें' ऐतिहासिक गाथाएँ हैं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ कल्पनात्मक कथा-सूत्र भी चलता रहता है। 'ख्यातों' की परंपरा कई शताब्दियों तक चली आई है और इनमें हमें डिंगल गद्य का सबसे प्रौढ़ रूप मिलता है। ब्रजभाषा गद्य को सबसे अधिक प्रोत्साहन १६ वीं शताब्दी के कृष्णभक्ति आन्दोलन में मिला।

जहाँ सूरदास ने लोक गीतों का सहारा लेकर साहित्यिक गीतों की सृष्टि की, वहाँ श्री वल्लभाचार्य के पुत्र विट्ठलनाथ ने बोलचाल की भाषा लेकर प्रारम्भिक ब्रजभाषा गद्य का निर्माण किया। उनका ग्रंथ 'शृङ्गार-रस-मंडन' ब्रजभाषा-गद्य का सबसे पहला साहित्यिक उदाहरण उपस्थित करता है। उनके पुत्र गोकुलनाथ ने हिंदी गद्य की इस परंपरा को अक्षुण्ण रखा और उसका प्रयोग प्रवचनों और भक्तों की महिमा-गाथा के लिये किया। फलस्वरूप हमें दो ग्रंथ मिलते हैं— 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। इन ग्रंथों में ब्रजभाषा गद्य अपने सर्वप्रौढ़ रूप में सामने आया है। इन दोनों ग्रंथों की सामग्री कदाचित गोकुलनाथ के प्रवचनों से इकट्ठी की गई है। १७ वीं और १८ वीं शताब्दी में टीकाओं और अनुवादों के लिये ब्रजभाषा का व्यापक रूप से प्रयोग हुआ। इनमें शैली की स्वतंत्रता के लिये अधिक स्थान नहीं था; फलतः इनका गद्य बिलकुल अव्यवस्थित है और उसका साहित्यिक मूल्य बहुत कम है। 'हिंदवी' में गद्य का प्रयोग मुख्यतः मुसलमान "औलियाओं" (सूफी संतों) द्वारा हुआ। सैयद मुहम्मद गेसूदराज बन्दानवाज का 'मैराजुल आशकीन' (१३६८) प्राचीन खड़ी बोली गद्य का पहला ग्रंथ है। शाह मीरानजी बीजापुरी (मृ० १६४६) और शाह बुरहान खानम (मृ० १३८२) का हिंदवी गद्य भी हमें प्राप्य है। हिंदू लेखकों ने खड़ी बोली गद्य का विशेष प्रयोग नहीं किया। अकबर के दरबारी कवि गंगभट्ट की 'चन्द छंद वर्णन की महिमा' किसी हिन्दू द्वारा लिखा पहला हिंदी-गद्य-ग्रंथ है, 'मंडोवर का वर्णन' और 'चकत्ता की पादशाही की परम्परा' नाम

के दो अन्य ग्रंथ भी मिलते हैं जिनके लेखकों के विषय में कुछ ज्ञात नहीं। १७६० ई० के लगभग की खड़ी बोली मिश्रित राजस्थानी की एक रचना 'कुतबदी साहिबजादा री वात' है।

खड़ी बोली का आधुनिक गद्य

हिंदी के आधुनिक गद्य की भाषा खड़ी बोली है। मूलरूप से यह कुरु पांचाल प्रदेश (दिल्ली मेरठ) की जनता की बोली भी है। मुसलमान-शक्ति का केन्द्र यही प्रदेश रहा और सामान्य आदान प्रदान के लिये इसी प्रदेश की बोली के तुर्की-अरबी-फारसी मिश्रित रूप (हिंदवी) का प्रयोग होता रहा। धर्म-प्रचार के लिये सूफी-संतों और पीरों ने इसी भाषा का प्रयोग किया और उनका साहित्य (११ वीं से १६ वीं शताब्दी तक) इसी भाषा में मिलता है। मुसलमान शासक जहाँ-जहाँ गये, इस बोली को साथ लेते गये। १८ वीं शताब्दी में जब अँग्रेजों ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तो उनकी भाषा में व्यापक रूप से अरबी-फारसी-मिश्रित खड़ी बोली का प्रयोग हो रहा था, विशेष कर छावनियों और बाजारों में। इस समय पश्चिम की बड़ी-बड़ी इस्लामी मंडियाँ और बड़े बड़े नगर उजड़ चुके थे और हिंदू व्यापारी पूर्वी प्रदेशों में फैल गये थे। वे अपने साथ पश्चिमी खड़ी बोली भी लाये और खड़ी बोली [illegible] में जनसाधारण की व्यापक भाषा का रूप ग्रहण करने लगी।

खड़ी [illegible]

आचार्य है। इंशाअल्लाखाँ और मुंशी सदासुखलाल फोर्ट विलियम्स कालेज की स्थापना (१८०० ई०) के पहले अपनी रचनाएँ उपस्थित कर चुके थे। सदासुखलाल की रचना 'सुखसागर' धार्मिक थी। इंशा की रानी केतकी की 'कहानी' जन-समाज के लिये ठेठ हिंदी में लिखी गई कहानी है। इंशाअल्ला खाँ का गद्य 'बाजीगरी' की दृष्टि से लिखा गया था। लेखक का दावा था कि "कोई कहानी ऐसी कहिये कि जिसमें हिन्दी छुट और किसी बोली की पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली रूप खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उनके बीच में न हो। 'हिन्दवीपन' भी न निकले और भाषापन भी न हो। जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों डोल रहे और छाँह किसी की न दे।" स्पष्ट है कि इस प्रकार की भाषा व्यवहार की भाषा नहीं हो सकती थी। सदासुखलाल और सदल मिश्र ने अवश्य व्यवहार-योग्य चलती भाषा का नमूना तैयार किया परन्तु पंडिताऊपन और प्रान्तीय भाषा सम्मिश्रण से वे भी बच नहीं सके। सुखसागर की खडी बोली उस ढंग की है जिस ढंग की संस्कृत के पंडित काशी, प्रयाग आदि पूरब के नगरों में बोलते हैं। यद्यपि मुंशी जी खास दिल्ली के रहने वाले थे और उर्दू के अच्छे कवि और लेखक थे, परन्तु हिन्दी गद्य के लिये उन्होंने पंडितों की बोली ग्रहण की। "स्वभाव करके वे दैत्य कहलाये" "उसे कुछ होयगा", "बहकाने वाले बहुत हैं" इस पकार के प्रयोग उन्होंने बहुत किये हैं। सदल मिश्र की भाषा में पूरबी-पन बहुत अधिक है। "जो" के स्थान पर "जौन" 'माँ' के स्थान पर "महतारी" 'यहाँ' के स्थान पर 'हहाँ" "देखूँगी" के स्थान पर

"देखौंगी" ऐसे शब्द प्रायः मिलते हैं। इसके अतिरिक्त व्रजभाषा या काव्य भाषा के ऐसे ऐसे प्रयोग जैसे "फूलन के" "चहु दिशि", "सुनि" भी लगे रह गये हैं। लल्लूलाल की भाषा में पंडिताऊपन, कथावाचकपन और व्रजभाषा की ऐसी खिचड़ी थी कि वह एकदम अव्यावहारिक बन गई थी। लल्लूलाल और सदल मिश्र फोर्ट विलियम कालेज से संबंधित थे जिसके अधिकारियों का सम्बन्ध कंपनी के शासन से था। वह इंगलैंड से आये तरुण शासकों को ऐसी भाषा का अध्ययन कराना चाहते थे जिसका प्रयोग वे उत्तरी भारत के राजकाज में सम्पर्क में आने वाली मध्यवर्गी जनता में कर सकें। शीघ्र ही उन्हें पता लग गया कि लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र के 'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा इस जनता की समझ में नहीं आती। उस समय अरबी फारसी मिश्रित खड़ी (उर्दू) बोली प्रचलित थी। अतः १८१८ ई० में फोर्ट विलियम कालेज बन्द कर दिया गया और उर्दू सिखलाने का प्रबन्ध इंगलैंड में ही हो गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले पचास वर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक खड़ी बोली के गद्य की नींव उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में रखी गई। परन्तु इन पहले चार आचार्यों के बाद लगभग ५० वर्ष तक कोई बड़ी शक्ति हिन्दी गद्य-क्षेत्र में नहीं आई। फिर भी इन पचास वर्षों का बड़ा ऐतिहासिक महत्व है। इन वर्षों में हिन्दी गद्य मुख्यतः ईसाई पादरियों के प्रचार-ग्रन्थों, स्कूल बुक सोसाइटियों और समाचार पत्रों के रूप में हमारे सामने आया। आगरा, श्रीरामपुर और कलकत्ता ईसाई पादरियों और मिश्-

संस्थाओं के केन्द्र थे और विशेष महत्वपूर्ण काम यहीं हुआ। पादरियों ने गद्य को केवल धर्म प्रचार का माध्यम बनाया परन्तु ट्रेक्ट बुक सोसाइटियों ने अपना काम धर्मप्रचार तक सीमित नहीं रखा और ज्ञान-विज्ञान के साहित्य को भी जनता तक पहुँचाया। १८२६ ई० में हिन्दी का पहला समाचार पत्र "उदंत मार्तण्ड" कलकत्ते से प्रकाशित हुआ। इसमें अवधी और ब्रजभाषा की छाप रहती थी। गद्य का जो रूप इसमें मिलता है, वह अत्यन्त प्रारम्भिक है। पहले चार आचार्यों की रचनाओं के बाद हिन्दी का पहला प्रौढ़ रूप 'बुद्धिप्रकाश' (१८५३) में मिलता है। तीन वर्ष पहले बनारस से 'सुधाकर' पत्र भी निकलने लगा था, परन्तु उसमें अत्यन्त संस्कृत गर्भित पंडिताऊ खड़ी बोली का प्रयोग होता था।

भारतेन्दु से पहले का हिन्दी-गद्य

उन्नीसवीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतने के बाद राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने स्वतंत्र रूप से दो नई शैलियों का अनुसंधान किया। राजा शिवप्रसाद की भाषा में पहले "हिन्दीपन" ही अधिक था, परन्तु उन्होंने शिक्षा-विभाग में प्रवेश किया और चाहे जिस कारण से हो धीरे-धीरे उनकी भाषा में अरबी-फारसी शब्दों की मात्रा बढ़ती गई। उनके वाक्यों की रचना भी उर्दू के ढंग पर होने लगी। राजा साहब की शैली का विरोध भी खूब हुआ हिन्दी-लेखकों का एक वर्ग संस्कृत शब्दों, संस्कृत प्रयोगों और संस्कृत ढंग पर वाक्य रचना की ओर मुड़ा। यह प्रतिक्रिया थी। इसके फलस्वरूप जिस भाषा का प्रयोग हुआ वह तत्सम-गर्भित साधारण बोलचाल से दूर और क्लिष्ट थी। उसमें मुहावरों का

प्रयोग नहीं होता था और कहावतों का नाम भी नहीं। बोलचाल के शब्द ग्रामीण समझकर दूर रखे जाते थे। इस भाषा-शैली के प्रतिनिधि राजा लक्ष्मणसिंह थे। राजा लक्ष्मणसिंह का लक्ष्य था विशुद्ध हिन्दी जिसमें संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रधानता हो। संस्कृत महाकाव्य "रघुवंश" के अनुवाद के प्राक्कथन में उन्होंने कहा "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के शब्द बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी फारसी के। परन्तु कुछ आवश्यक नहीं कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी शब्द भरे हों।" फलतः दोनों गद्यकार अपने-अपने हठ पर अड़े रहे। जहाँ राजा शिवप्रसाद की भाषा और उर्दू में लिपि के सिवा और कोई भेद नहीं रह गया वहाँ राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा इतनी संस्कृत गर्भित हो गई कि एकदम अव्यावहारिक थी। यह परिस्थिति १८७३ ई० तक रही, जब कि भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने "हरिश्चन्द्र मैगजीन" के साथ व्यावहारिक हिन्दी की नींव डाली और लेखक-निर्माण के द्वारा उसकी परंपरा स्थापित की। इससे पहले भारतेन्दु कई नाटक लिख चुके थे, परन्तु तब तक भाषा-सम्बन्धी किसी निश्चित सिद्धान्त पर वे नहीं पहुँचे थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—"हिन्दी नई चाल से ढली सन् १८७३ ई० में।"

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

१८८४ ई० में भारतेन्दु ने "हिन्दी भाषा" शीर्षक एक निबन्ध

लिखा है जिनमें उन्होंने अपने समय की भाषा-शैलियों पर विचार किया है और अपनी दो प्रिय शैलियों का उल्लेख किया है: (१) "जो शुद्ध हिंदी है" और (२) 'जिनमें संस्कृत के शब्द थोड़े हैं।" उन्होंने अधिकांश गद्य, विशेष कर अपने नाटकों का गद्य, इसी शैली में लिखा। साधारण और सरल विषयों पर लिखते समय भी उन्होंने इसी शैली को अपनाया, परन्तु यह शैली उन्हें सर्वमान्य नहीं थी। ऐतिहासिक और विवेचना संबन्धी विचार-पूर्ण और गम्भीर विषयों में इससे काम नहीं चल सकता था। ऐसे अवसरों पर कुछ अधिक तत्सम शब्द चाहिये, चाहे वे किसी भाषा के हों। भारतेन्दु ने तत्सम शब्द संस्कृत से लिये। यह उनकी दूसरी प्रिय शैली रही।

भारतेन्दु ने प्रान्तीय शब्दों और प्रयोगों को एकदम तिलांजलि दे दी। पंडिताऊपन को उन्होंने दूर रखा। उन्होंने संस्कृत और अरबी-फारसी के झमेले में बीच का मार्ग पकड़ा। उन्होंने इन भाषाओं के इतने शब्द आने दिये जिनसे भाषा में हिंदीपन बना रहता और वह इन भाषाओं से अनभिज्ञ पाठकों को दुरूह न हो जाती। यह सचमुच कठिन काम था जिसमें सफलता का अर्थ था ऐसी भाषा का जन्म जिसकी उर्दू से स्वतन्त्र अपनी सत्ता हो। ऐसी भाषा गढ़ने का श्रेय भारतेन्दु को ही मिला। उनके समकालीन लेखकों ने भाषा-संस्कार सम्बन्धी उनके महत्व को स्वीकार कर उनके अनुकरण में लिखी अपनी भाषा को "हरिश्चन्दी हिन्दी" कहा। आज की खड़ी बोली इसी हरिश्चन्दी हिंदी का विकसित रूप है। इसी से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आधुनिक हिन्दी गद्य के पिता और प्रथम शैलीकार माने जाते हैं।

भारतेन्दु ने शैली का प्रयोग अनेक दृष्टिकोणों से किया और परवर्ती गद्य-साहित्य पर उसका प्रभाव कम नहीं पड़ा। भाषा क्लिष्ट न हो, इस विषय में विशेष सतर्क थे इसके लिये जहाँ वे शुद्ध भाषा की दृष्टि से शुद्ध हिन्दी का प्रयोग करते थे, वहाँ भाव की दृष्टि से अत्यन्त प्रचलित भाव ही सामने रखते थे। उनकी शैली भाव के पीछे-पीछे चलती है। भावों के उत्थान-पतन को प्रकट करने में वह अत्यन्त सफल हैं। इस गुण को रागात्मक कहा जा सकता है। भावानुकूल शैली की योजना में उन्नीसवीं शताब्दी का कोई भी लेखक भारतेन्दु की जोड़ का नहीं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य मुख्य गद्यकार लाला श्रीनिवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' हैं। ये सब भारतेन्दु-मंडली के लेखक कहे जाते हैं परन्तु भारतेन्दु के गद्य की छाप होते हुये भी इन सब का गद्य अपने रूपों में स्वतन्त्र है। इनमें शैलीकार के रूप में बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र प्रमुख हैं।

बालकृष्ण भट्ट

भारतेन्दु-मंडली के सदस्यों में से अधिक लोकप्रियता बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र को प्राप्त हुई। जहाँ प्रतापनारायण मिश्र की शैली में भारतेन्दु की सामान्य भाषा शैली का विकास मिलता है वहाँ बालकृष्ण भट्ट में उनके गम्भीर निबन्धों की शैली का विकास मिलेगा। बालकृष्ण भट्ट की शैली में प्रवाहमयता कम नहीं है, परन्तु भाषा की शुद्धता की ओर उनका आग्रह विशेष नहीं है। अँग्रेजी, फारसी

और उर्दू शब्द हिंदी के साथ गुँथे हुये चलते हैं। प्रतापनारायण मिश्र को कहावतों की धुन है तो इन्हें मुहावरों की। वह समय हिंदी गद्य के उन्नयन और विकास का प्रारम्भिक युग था, अतः किसी लेखक से शैली की एकरूपता की आशा करना व्यर्थ है। शिष्ट, समादृत शब्दों में गम्भीर विचारों और भावनाओं का प्रकाश भट्टजी की शैली में सफलतापूर्वक हो सका है। प्रतापनरायण मिश्र की तरह 'आँख' 'कान', 'बातचीत, जैसे विषयों पर भी उन्होंने लेख लिखे हैं, परन्तु उन्हें विशेष सफलता 'कल्पना', 'आत्मनिर्भरता' जैसे गम्भीर भावात्मक निबन्धों में मिली है जिनमें उन्होंने गम्भीर विषयों पर अपनी लेखनी चलाई है। हिन्दी प्रदीप (१८७७—१९१०) की पुरानी फाइलों में उनकी ३२ वर्षों की साहित्य-साधना सुरक्षित है। उनके किसी किसी लेख में इतनी सुकुमारता और भाव-प्रवणता मिलेगी कि आज भी हम उसे श्रेष्ठ गद्य काव्य के रूप में उपस्थित कर सकेंगे।

प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र ने अपने को भारतेन्दु की शैली का अनुवर्ती बताया है, परन्तु भारतेन्दु की शैली का गांभीर्य उनकी शैली में नहीं है, न उतनी विविधता। वह विशेषतः विनोदी लेखक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। कानपुर के सामयिक जनजीवन में वे जैसे हिले-मिले थे, वैसे ही उनकी भाषा में जन व्यवहृत ग्रामीण भाषा विनोद, कहूक्तियाँ और चलती कहावतों का प्रयोग मिलेगा। वैसे हास्य और व्यंग के लिये अथवा क्षण भर के मनोरञ्जन के लिए उनकी

शैली बुरी नहीं है। शिष्टता और नागरिकता से वह कोसों दूर है और गम्भीरता एवं अध्ययन का उसमें समावेश नहीं हो सका है। मार्मिक हास्य, रोचकता, सुबोधता, आध्यात्मिकता ये गुण उनकी शैली को जनप्रिय बना सके हैं।

यदि शैली का सर्वश्रेष्ठ गुण लेखक के व्यक्तित्व का प्रकाशन है, तो इस दृष्टि से प्रतापनारायण मिश्र की शैली अद्वितीय है। आज भी उनके निबन्ध पढ़कर उनका मौजी, प्रेमी व्यक्तित्व आँखों के सामने आ जाता है जो उच्च साहित्यिक गोष्ठियों में भी रस लेता था और लावनीबाजों की मंडली में भी। उनकी अकृत्रिम, वाग्छल समन्वित, हास्यात्मक, मनोरंजक भाषा शैली में आज निःसन्देह उनका व्यक्तित्व सुरक्षित है। 'बात', 'वृद्ध' 'भौं', 'धोखा', 'मरे को मारे शाहमदार' जैसे निबंधों में उनकी प्रतिनिधि शैली मिलेगी। गम्भीर विषयों पर भी उन्होंने लिखा है जैसे 'शिवमूर्ति' 'सोने का डंडा', 'काल', 'स्वार्थ' परन्तु इन निबन्धों की शैली में वह मन की मौज नहीं है जो उनकी विशेषता है। विरामादि चिह्नों के अभाव, व्याकरण-सम्बन्धी भूलों और मर्यादा-रहित कल्पना के कारण उनकी शैली आज साहित्य से बहुत पीछे इतिहास की वस्तु रह गई है।

बीसवीं शताब्दी का गद्य

बीसवीं शताब्दी में भाषा-शैली के अनेक रूप प्रतिष्ठित हुये। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम बीस वर्षों से साहित्यिक उथल-पुथल के साथ एक प्रकार से हिन्दू-समाज संगठित हो रहा था। वेदों और उपनिषदों की ओर

देखने के फलस्वरूप हिन्दी गद्य-शैली का रूप संस्कृत-शब्दावली प्रधान हो गया। जैसे-जैसे वर्ष बीतते गये, भाषा में तत्समता की मात्रा बढ़ती गई। आर्यसमाज की चुनौती देने वाली मनोवृत्ति ने उग्र बल-शाली कभी-कभी गाली-गलोज पूर्ण—परन्तु बहुधा व्यंगात्मक गद्यशैली को जन्म दिया जिसका सबसे विकसित रूप श्री पद्मसिंह शर्मा में मिलता है। पहले कुछ वर्षों का अधिकांश गद्य-साहित्य मासिक पत्रों में प्रकाशित निबन्धों के रूप में हमारे सामने आया। निबन्ध-रचना के कारण लेखक विभिन्न विषयों की ओर जाते थे। इससे विषयों के अनुरूप शैली में थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन करना पड़ता था। इससे हिंदी की शैलियाँ अधिक विविध और अधिक वैज्ञानिक हो गईं। उनमें सूक्ष्म बातों को साफ ढंगो से सामने रखने की शक्ति आई। उनकी अनिश्चितता नष्ट हो गई। हिंदी गद्य-शैली के इस विकास में समाचार-पत्रों और मासिक पत्रों ने विशेष रूप से सहायता दी।

देवकीनन्द और किशारीलाल के साथ हिंदी साहित्य में उपन्यासों का युग शुरू हुआ। उपन्यास बोलचाल की भाषा की ओर झुकता है। उसने उर्दू मिश्रित उस प्रवाहमयी शैली को विकसित किया जो बाद में 'हिंदुस्तानी' का आदर्श मानी गई। इस शैली के सबसे प्रधान लेखक प्रेमचन्द हैं। हमारी गद्य-शैलियों के निर्माण एवं विकास में उपन्यासों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। हमारे प्रधान शैलीकार अधिकतः उपन्यास कार या कहानी-लेखक हैं। इसका कारण यह है कि कथा के साथ शैली को प्रभावोत्पादक बनाने के लिये लेखकों ने इस क्षेत्र में अनेक प्रयत्न किये हैं। पहले महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद रवि बाबू की 'गीतांजलि'

और बंगला के प्रभाव के कारण दो नयी शैलियाँ चल पड़ीं। एक थी भावना-प्रधान, दूसरी काव्यमय। इसी समय असहयोग-आंदोलन का जन्म हुआ जिसने उत्तेजनापूर्ण, चुभते चुटकी लेते गद्य को जन्म दिया। प्रेमचन्द के बाद के कथाकारों ने शैली के अनेक प्रयोग किये। इसका एक कारण यह था कि कुछ प्रेमचन्द के उपन्यासों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के कारण और कुछ अपनी अहंता के कारण इधर के लेखकों की दृष्टि अन्तर्मुखी हो गई। पश्चिम के लेखकों के ढंग पर अनेक भावात्मक और मनोवैज्ञानिक शैलियाँ चल पड़ीं। पिछले महायुद्ध के बाद के शैलीकारों में जयशंकर 'प्रसाद', राय कृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, पाडेय बेचन शर्मा उग्र सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला, जैनेन्द्रकुमार जैन और सच्चिदानन्द हीरानंद वात्स्यायन प्रमुख हैं।

माधवप्रसाद मिश्र

माधवप्रसाद मिश्र के लेखों में मार्मिकता और ओजस्विता की प्रधानता है। वाद विवाद में उनकी गद्य-शैली सबसे सुन्दर रूप में प्रकट होती है। भाषा में तत्समता की प्रधानता है और गम्भीर विवेचन के साथ आवेश और भावुकता का भी मिश्रण हो गया है। 'सुदर्शन' में पर्व-योहारों, उत्सवों, तीर्थस्थानों, यात्रा और राजनीति सम्बन्धी जो लेख इन्होंने लिखे, उनमें भारतेन्दु की शैली का ही प्रयोग हुआ है। 'धृति' और 'क्षमा' जैसे अमूर्त विषयों पर लिखते समय उनकी शैली अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर हो गई है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

खड़ी बोली-गद्य के विकास के इतिहास में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद सबसे महत्वपूर्ण नाम पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने भाषा का प्रचार किया और अनेकप्रकार को शैलियों का निर्माण किया। उनकी भाषा-शैली ने शीघ्र ही सामान्य हिंदी भाषा शैली का रूप ग्रहण कर लिया। १६०३ ई० में 'सरस्वती' का संपादन हाथ में लेते ही द्विवेदीजी ने भाषा संस्कार का प्रश्न उठाया। लगभग सात वर्षों तक विराम चिन्हों, क्रियापदों और भाषा के शुद्धरूपों एवं प्रयोगों के सम्बन्ध में वे आंदोलन करते रहे। 'भाषा की अनिस्थिरता' निबन्ध द्वारा उन्होंने जिस आंदोलन का श्रीगणेश किया उसने हिंदी को बँगला प्रयोगों और हिंदी-लेखकों की उच्छृङ्खलताओं से मुक्त कर दिया।

द्विवेदी जी ने एक विशेष प्रकार की शैली का निर्माण किया जिसमें कहानी कहने का रस आ जाता था और जिसके आकर्षण के कारण पाठक बरबस उसकी ओर खिंचता था। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनके लेखों को 'बातों का संग्रह' कहा है। इस शैली में वे संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करते थे, न अरबी-फारसी का। भाषा की सजीवता और स्वाभाविकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था।

जहाँ तक सम्भव होता, गम्भीर निबन्धों में भी द्विवेदीजी परिचित और घरेलू वातावरण लाने का प्रयत्न करते थे। जो कहना होता उसे बड़ी सतर्कता से, कई बार घुमा-फिराकर सामने रखते। परन्तु बात को पाठक के मन में उतारने के इस प्रयत्न में शैली का पांडित्य-पूर्ण दुरूह रूप

चला जाता है, जो पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में मिलेगा। न यहाँ गूढ़-गुम्फित पदावली है, न एक-एक पंक्ति में विचार भर देने की चेष्टा परन्तु द्विवेदीजी पहले हिन्दी साहित्यक हैं जिन्होंने लिखते समय पाठकों को महत्त्व दिया और उनका ध्यान रखा। इसी से उनकी शैली में छोटे-छोटे तुले हुए वाक्यों का प्रयोग हुआ है और समझाने-बुझाने की व्यास शैली से काम लिया गया है। जहाँ तक विचारों को जनता तक पहुँचाने का सम्बन्ध है, गम्भीर निबन्धों में भी यह शैली सफल है। द्विवेदीजी ने वादविवाद में हास्य व्यंग-मिश्रित मार्मिक, कटाक्षपूर्ण, चोट करने वाली शैली का प्रयोग किया जिसने उस समय के साहित्य-जगत में काफी कटुता उत्पन्न की थी, परन्तु साहित्य में उच्छृङ्खलता के दमन के लिये द्विवेदीजी की यह रौद्र रूप भी आज सुन्दर जान पड़ता है। सामान्यतः उनकी शैली में विषय के अनुसार तत्सम शब्दों का न्यूनाधिक प्रयोग रहता है। उर्दू मुहावरों, कहावतों चुटीली उक्तियों से सजी रहने पर भी द्विवेदी जी की शैली मुख्यतः सरल, घरेलू और सीधी है। उसमें वर्णन-शैली का अद्भुत प्रवाह है, हृदय को मुग्ध करने की आकर्षण कला है।

श्यामसुन्दरदास

बाबू श्यामसुन्दरदास की भाषा-शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जहाँ उनका गद्य उर्दू फारसी शब्दों के मेल से बराबर बचा रहता है, वहाँ उसमें न बड़े-बड़े समासांत संस्कृत गर्भित वाक्य हैं न छोटे में ही सूत्र रूप में बहुत कुछ भर दिया गया। न उसमें पं० रामचंद्र शुक्ल की समासपद्धति मिलेगी, न गोविन्दनारायण मिश्र की संस्कृत गर्भिता।

साधारणतः उनकी शैली गंभीर, रूक्ष और विचारों से बोझीली है। वह प्रज्ञात्मक है, रसात्मक नहीं। कदाचित् इसका कारण यह हो कि उनका अधिकांश जीवन व्याख्याता और अध्यापक के रूप में बीता। व्याख्यान और अध्यापन में जिस तथ्य प्रधान, सीधी-सादी, सारगर्भित शैली का प्रयोग होता है, वही इनकी शैली में है। न कहीं रसोद्रेक है, न भावुकता, न व्यंग। परन्तु जिस शैली को द्विवेदी जी ने जन्म दिया उस सामान्य हिन्दी शैली का विकसित रूप इसी शैली में मिलता है और साधारण विवेचन के लिये इससे अधिक उपयुक्त शैली की सम्भावना कठिन है। आज भी अनेक लेखक इस शैली का प्रयोग कर रहे हैं।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

द्विवेदी-युग के गद्य-लेखकों में बख्शीजी का महत्वपूर्ण स्थान है। अपने स्वतन्त्र अध्ययन से वह उस युग के लेखकों को प्रभावित कर सके हैं और 'सरस्वती' के द्वारा उन्होंने हिंदी लेखकों को पहली बार विदेशी साहित्य की ओर आकर्षित किया है। यों तो इतिहास, दर्शन, साहित्य और अध्यात्म लगभग सभी विषयों पर उन्होंने लिखा है, परन्तु हिंदी आलोचना में नए तथ्यों का समावेश करने में वे प्रथम हैं। उनकी भाषा-शैली उनके साहित्य के अध्ययन और मनन की प्रतिरूप है। छोटे छोटे वाक्य और बात कहने का सीधा-सादा ढङ्ग उनकी गद्य-शैली की विशेषता है। उन्होंने शैली की ओर कम, विषय की ओर अधिक ध्यान दिया है।

सम्पूर्णानन्द

बाबू सम्पूर्णानन्द जहाँ उच्चकोटि के साहित्यकार हैं, वहाँ उतने ही बड़े समाजवादी कार्यकर्ता और जन-नायक भी हैं। पिछले जनांदोलनों में वे प्रमुख रहे और जनमंच की भाषा और शैली का उनकी रचनाओं पर प्रभाव पड़ा है। साधारणतः उनकी शैली पांडित्यपूर्ण और गम्भीर है, परन्तु उसमें अध्यापक की भाँति पाठक (श्रोता) को साथ में लेकर चलने की प्रवृत्ति है और ओजपूर्ण व्याख्यान-शैली का भी कहीं-कहीं समावेश हो जाता है। यह शैली बाबू श्यामसुन्दरदास की शैली की परम्परा को आगे बढ़ाती है, परन्तु उनकी गद्य शैली की अपेक्षा यह अधिक ओजपूर्ण है, अतः पाठक के हृदय के अधिक निकट है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

'बाणभट्ट की आत्मकथा' में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बाणभट्ट की कादम्बरी की गद्य-शैली का पुनरुद्धार किया है। आधुनिक गद्य में यह गद्य शैली हर्षेश और प्रसाद की अलंकृत, काव्यात्मक और ऐश्वर्यपूर्ण शैली की हो नई परम्परा स्थापित करती है। परन्तु यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली नहीं है। उनकी प्रतिनिधि शैली उनके आलोचना-ग्रंथों और गम्भीर साहित्य विवेचना संबंधी लेखों में मिलेगी। इसमें तत्सम शब्दों और पांडित्यपूर्ण वाक्यखंडों की प्रधानता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की गंभीर भाषा-शैली में कटूक्तियों और व्यंग का पुट रहता था जो उसे सरस और सजीव बना देता था। द्विवेदीजी की शैली में व्यक्तिगत आक्षेपों और कटु वाद-विवादों को स्थान नहीं मिला है।

इससे हास-परिहास और व्यङ्ग की सरसता और सजीवता उसमें नहीं है। परन्तु साहित्य-विवेचना के लिये यह शैली नितान्त उपयुक्त है।

रामचन्द्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल प्रधान रूप से साहित्य-चिंतक और आलोचक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने मनोवैज्ञानिक निबन्ध भी लिखे हैं और इस दिशा में उनका काम सर्वथा नवीन है।

गंभीर, चिंतन प्रधान, अध्ययन मूलक, संस्कृत-गर्भित भाषा-शैली शुक्लजी की विशेषता है। उन्होंने पहली बार ऐसे गद्य का निर्माण किया जो विचार मूलक और आलोचना प्रधान था और जो उच्च कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता था। कहीं छोटे-छोटे वाक्यों में उन्होंने गंभीर विचार भर दिया है और इन वाक्यों और विचारों की लड़ियाँ दूर तक चली गई हैं। कहीं बड़े-बड़े वाक्य हैं जिनमें वे किसी एक गंभीर विचार को आगे बढ़ाते, उसे शब्द-शब्द पर नया बल देते हैं। सामूहिक रूप उनकी शैली पाठक के मन पर उनकी अगाध विद्वता और उनके गंभीर व्यक्तित्व की छाप छोड़ जाती है। परंतु कहीं कहीं उनकी शैली अत्यन्त व्यंगात्मक, मार्मिक और चुटीली हो गई है. विशेष कर जहाँ वे किसी विरोधी सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते हैं या किसी उच्छृङ्खल कवि को सावधान करते हैं। गंभीर साहित्य विवेचना के बीच में यह व्यङ्ग-प्रधान शैली आचार्य के गद्य को नया वेग और नई स्फूर्ति प्रदान करती है और पाठक का मन ऊबता नहीं। सङ्केतात्मक अभिव्यजना, भाव-सौष्ठव और गंभीर विवेचना के लिये इस गद्य-शैली में बड़ी संजीवन-शक्ति है

वियोगी हरि

वियोगी हरि की प्रतिभा ने गद्य और पद्य दोनों के क्षेत्र में योग दिया है। जहाँ उनकी भाव-धारा में भक्ति और अध्यात्मवाद का समावेश रहता है, वहाँ उनकी शैली में कवित्वमयता, पांडित्य और मनमौजीपन का इतना सुन्दर मिश्रण होता है कि हृदय मोहित हो जाता है। शैली की मनोरञ्जकता उनके गद्य की विशेषता है। कवितामय गद्य लिखने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं। सहृदयता और भावुकता के साथ व्यंजना का इतना सुंदर योग अन्यत्र नहीं मिलेगा। वियोगीहरि अनुभूति को सच्चा रूप देने वाले कलाकार हैं। उनकी कोमल, सानुप्रास, प्रवाहमयी वाग्धारा पाठक को दूर तक बहा ले जाती है। उनके स्थायीभाव अध्यात्मवाद के कारण कहीं-कहीं अस्पष्ट हो जायें, या समासांत पदावली पाठक को कृत्रिम लगे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि विषय को रोचक बनाने में वह अद्वितीय हैं। भाव प्रधान गद्य-शैलीकारों में वे प्रमुख हैं।

भाषा की दृष्टि से वियोगी हरि की शैली में तत्समता की प्रधानता रहती है परन्तु इस तत्समता को अपनी प्रवाहमयी शैली और उर्दू के निर्बाध प्रयोग के कारण उन्होंने सरल और ग्राह्य बना दिया है। उनकी सरलता और चपलता उनके अगाध पांडित्य को सरलता प्रदान करती है। वे संस्कृत, फारसी और उर्दू के विद्वान हैं, अतः स्थान-स्थान पर इन भाषाओं की सरस उक्तियों को स्थान देकर वे रागात्मकता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच जाते हैं।

वियोगी हरि के व्यक्तित्व में भक्ति भावना, राष्ट्रप्रेम, दीनों के प्रति

अपार सहानुभूति और उच्च साहित्यिकता का अद्‌भुत सम्मिश्रण है और इन तत्वों ने उन्हें इस युग का एक विशिष्ट शैलीकार बनाया है।

गुलाबराय

गुलाबराय विचार-धारा और शैली दोनों के क्षेत्रों में द्विवेदी युग और समसामयिक युग के बीच की कड़ी हैं। उनके निबन्धों में शैली की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। साधारण हास-परिहास से लेकर गम्भीर विवेचना-प्रधान साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक निबन्ध तक उन्होंने लिखे हैं और विषय के अनुरूप वे शैली को बराबर बदलते जा रहे हैं। द्विवेदी युग के वे ऐसे प्रथम लेखक हैं, जिसके लेखों में भाषा की एक नई गति-विधि और विचार-धारा से उद्दीप्त नूतन भावभंगी के दर्शन होते हैं। उन्होंने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। उनके साहित्यिक निबन्धों की भाषा बड़ी संगठित और उसके भीतर एक पूरी अर्थ-परम्परा बँधी रहती है।

महादेवी वर्मा

रहस्यवादी कवि के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी महादेवी वर्मा का आधुनिक गद्य शैली के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा। उनका गद्य तीन रूपों में हमारे सामने आता है और तीनों रूपों में वह महान् है। 'यामा' और 'दीपशिखा' की भूमिकाओं में वह गम्भीर, साहित्यिक, विवेचनात्मक तथ्यप्रधान गद्य-शैली का प्रयोग करती हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' में उन्होंने विद्रोहात्मक, ओजपूर्ण, प्रवाहमयी शैली विकसित की है। परन्तु उनका सबसे सुन्दर गद्य हमें 'चलचित्र' के रेखाचित्रों में

ता है । इतना सहृदय, इतना सम्वेदनाशील, इतना काव्यात्मक, ही सरल गद्य हिन्दी में नहीं आया । इन रेखाचित्रों में तत्समता है, पांडित्य भी नहीं है । दैनिक जीवन के अनेक चित्रों को दैनिक न की भाषा में उभार कर सामने रख दिया गया है, परन्तु बीच- में अत्यन्त सहानुभूतिपूर्ण काव्यात्मक भाषा और चित्र प्रधान-शैली भी प्रयोग हुआ है । 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' को कविताओं में ा का जो गौरव है जो चित्रोपमेयता है, जो नाद-सौन्दर्य है, वह सब त्ति 'चलचित्र' के गद्य को सहज ही में प्राप्त हो गई है ।

माखनलाल चतुर्वेदी

माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा' के नाम से राष्ट्रीय कवि के में प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'कर्मवीर' के संपादक के नाते एवं अनेक रणों, वक्तृताओं और साहित्यिक लेखों के रूप में उन्होंने गद्य भी र नहीं लिखा है । उनका अधिकांश गद्य-साहित्य अप्रकाशित है, न्तु प्रकाशित साहित्य के आधार पर ही हम उन्हें अपने युग का श्रेष्ठ शैकार कह सकते हैं । अन्य कलाकारों से उनकी विशेषता यह है कि रकी लेखनी से जितना कला पूर्ण गद्य प्रसूत हो सकता है, उतना ही त्मक गद्य उनकी वक्तृताओं में भी रहता है ।

चतुर्वेदी जी के गद्य में हमें गद्य के काव्यात्मक रूप का चरम उत्कर्ष लता है । कहीं कहीं पर उनका गद्य बिना छन्द का पद्य बन गया है । स के मारे रस में डूब कर उनकी लेखनी साधारण से साधारण विषय र्णित करने में सफल है । राय कृष्णदास जी की तरह उनकी शैली

भी मुख्यतः अन्योक्ति प्रधान अतः सांकेतिक है। भाषा और व्यंजना के अनेक परदों के पीछे उनकी बात छिपी रहती है, परन्तु जब पाठक उनकी अभिव्यंजना के रूप से परिचित हो जाता है तो वही बात साहित्य रस में डूब कर इसे आर्द्र कर देती है।

आधुनिक युग में अनेक कवियों ने गद्य लिखा है, परन्तु उनके संकेत अस्पष्ट बनकर पहेली बुझाने लगते हैं। माखनलाल जी के गद्य में यह दुरूहता नहीं है। ऊँचे से ऊँचा दर्शन और गहरे से गहरा भाव उनकी संकेतात्मक और काव्यात्मक रचना शैली में प्रकट होकर भी सुबोध बना रहता है। इसका कारण उनके वाक्यों और पदों का कलात्मक संगठन है। छोटे-बड़े खुले-मुँदे, मीठे-चुटीले वाक्य उनकी शैली में साथ साथ चलते हैं। तन्मयता और रागात्मकता की दृष्टि से उनकी शैली अपूर्व है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा

हिन्दी गद्य केवल विचारात्मक और भावात्मक शैलियों पर ही समाप्त नहीं हो जाता। धीरे-धीरे ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में उसका प्रयोग हो रहा है और तदनुरूप नई-नई शैलियों का निर्माण। डा० धीरेन्द्र वर्मा की गद्यशैली में हम पहली बार वैज्ञानिक तथ्यप्रधान शैली से परिचित होते हैं। इस शैली में पांडित्य प्रदर्शन के लिए बड़े-बड़े तत्सम शब्दों का प्रयोग नहीं होता, परन्तु छोटे-छोटे वाक्यों में तथ्यों को इतने पास पास इतने संगठित रूप में सजाया जाता है कि एक भी वाक्य निकाल लेने पर विचार विशृङ्खल हो जाता है। लेखक एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द का इस सतर्कता से चयन करता है कि उसकी विचार-धारा को समझने के लिए सतत जागरूक रहना पड़ता

है। गंभीर और साधारणतः सूक्ष्म होने पर भी वैज्ञानिक विवेचन की यह शैली साहित्य की मूल्यवान संपत्ति है।

जयशंकर 'प्रसाद'

साहित्य के सभी क्षेत्रों में प्रसाद जी की प्रतिभा ने योग दिया है। निबन्धों, कहानियों और उपन्यासों और नाटकों के रूप में उनका बहुत अधिक गद्य-साहित्य हमारे सामने है। उसमें भाषा और शैली की अनेकरूपता के दर्शन होते हैं। परन्तु प्रसाद जी की स्वाभाविक गद्य-शैली उनके नाटकों और काव्यात्मक छोटी कहानियों में ही मिलती है। हिन्दी गद्य-लेखकों में वे एक बड़े कलाकार के रूप में सामने आते हैं। अपनी बात को अनेक बार सवार कर अभिव्यंजना के सर्वश्रेष्ठ रूप में वे उसे हमारे सामने रखते हैं।

प्रसाद जी की शैली में तत्समता की प्रधानता है। दार्शनिकविचारों, प्रकृति चित्रण और तीव्र अन्तर्द्वन्द्व के प्रकाशन में उन्होंने संकल्प गर्भित, परन्तु चित्रात्मक भाषा शैली का ही प्रयोग किया है। पुरातत्व इतिहास और संस्कृत साहित्य के अध्ययन ने उनकी शैली को प्रभावित किया है और यह सर्व-साधारण से दूर चली जाती है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि उनकी शैली में उनके व्यक्तित्व की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो गयी है और उसने समसामयिक अनेक लेखकों को प्रभावित किया है।

नगेन्द्र

नवन आलोचकों में नगेन्द्र सबसे बड़े शैलीकार हैं। वास्तव में हिंदी-आलोचना की भाषा-शैली को उन्होंने एक अत्यंत आकर्षक और

लोकरंजक रूप दे दिया है। साधारणतः उनकी शैली गम्भीर, तथ्य-प्रधान और वैज्ञानिक सतर्कता से पूर्ण है, परन्तु 'वाणी के न्याय मन्दिर में' 'यौवन के द्वार पर', 'हिन्दी उपन्यास' आदि निबन्धों और स्केचों में वे एक उत्कृष्ट कलाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं। सिद्धान्तों और तथ्यों की गम्भीरता को ग्राह्य बनाने के लिये कहीं स्वप्न का वातावरण उपस्थित किया जाता है, कहीं संलाप शैली को अपनाया जाता है, कहीं हास-परिहास और करतलध्वनियों के वातावरण का निर्माण किया जाता है। गम्भीर विवेचना को इतना आकर्षक रूप पहले नहीं मिला था। हास-परिहास, व्यंग, चुहल और पांडित्य-पूर्ण गंभीर विवेचना का अद्‌भुद सम्मिश्रण लेखक के व्यक्तित्व के दो पहुलओं की ओर संकेत करता है। आलोचना जैसे नीरस, गम्भीर विषय में नाटकीयता और चुहल द्वारा विविधता और कोमलता लाने का श्रेय नगेन्द्र की भाषा-शैली को मिलेगा।

राय कृष्णदास

हिंदी गद्य में भावुकता-प्रधान गद्य गीतों की नई शैली के प्रवर्तक राय कृष्णदास हैं। द्विवेदीजी और उनके सहयोगियों में काव्य की मात्रा कुछ भी नहीं थी। नीरस, तथ्य-प्रधान, पांडित्यपूर्ण वाक्य खंड ही गद्य का सर्वश्रेष्ठ रूप समझे जाते थे। इस शैली में स्वाभाविक रूप से संस्कृत तत्सम शब्दों की प्रधानता है, परन्तु उन उर्दू शब्दों और मुहावरों को भी ग्रहण किया गया है जो हिन्दी बन गये हैं। प्रादेशिक (बनारसी) शब्दों का पुट भी इनके गद्य में मिलेगा, परन्तु मुख्यतः इनका गद्य सरल, सुन्दर और सुगठित है जो छोटे-छोटे पदों में केवल

साधारण संस्कृत शब्दों के प्रयोग से ही उच्च कोटि की अभिव्यंजना में सफल होता है।

'साधना' राय कृष्णदास की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसमें छोटे-छोटे गद्य-गीतों का संगठन है जो कहीं दैनिक जीवन के सरल व्यापारों और कहीं अन्योक्ति द्वारा परोक्ष की अनुभूति को चित्रित करने में सफल हुये हैं। 'गीतांजलि' (१६११) के अंग्रेजी संस्करण की गद्य शैली की इनकी शैली पर स्पष्ट छाप है। वाच्यार्थ की अपेक्षा ध्वन्यार्थ को अधिक प्रधानता देने के कारण भाव सहज गम्य नहीं हैं, परन्तु लेखक की लोकोत्तर स्फूर्ति इन गद्य गीतों में अत्यन्त सफलता से प्रकाशित हो सकी है।

शिवदानसिंह चौहान

प्रगतिशील तरुण आलोचकों में शिवदानसिंह चौहान शीर्ष-स्थ पर आते हैं। आधुनिक आलोचनात्मक साहित्य विदेशी आलोचना साहित्य से प्रभावित है और नई प्रवृत्तियों एवं सिद्धान्तों की अभिव्यञ्ज[illegible] के लिये नये आलोचक को नया शब्दकोष बनाना होता है। शिवद[illegible] सिंह चौहान की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने हिन्दी गद्य [illegible] समाजवादी एवं मनोवैज्ञानिक आलोचना के लिये एक नया शब्दकं[illegible] दिया है। उनकी गद्य-शैली तन्मयता की ओर झुकती है और [illegible] तरह से वह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की गद्य शैली की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। वही पांडित्य पूर्ण, गम्भीर तथ्य-प्रधान शैली, [illegible] [illegible] से बोझिल संस्कृत गर्भित भाषा। नये आलोचकों में वे स[illegible] [illegible] गम्भीर हैं और उनकी भाषाशैली में नगेन्द्र की भाषाशैली

तरह मनोरंजकता नहीं है। जहाँ विषय उतना गम्भीर नहीं, वहाँ उनकी शैली अपेक्षाकृत सरल है।

डा० रघुवीरसिंह

तरुण गद्य शैलीकारों में डा० रघुवीरसिंह का स्थान महत्वपूर्ण है। 'शेष स्मृतियाँ' शीर्षक पुस्तक के पाँच निबन्धों में उन्होंने जिस तरह प्राचीन मुगल वैभव को सजीव, साकार और स्पंदित बना दिया है वह अभूतपूर्व है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'क्षुधित पाषाण' नाम की प्रसिद्ध कहानी में जिस चित्रात्मक, भाव प्रधान, अलंकृत शैली का प्रयोग हुआ है, उसे वे एक बड़े क्षेत्र में अपनाने में सफल हुये हैं। भाव-प्रेरित कल्पना का इतना सुन्दर चित्र आधुनिक साहित्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा। भाषा की नई भाव-भंगी के अनुसार लक्षणा के नए प्रयोग उनकी शैली की विशेषता है। कहीं कुछ दूर तक सम्बद्ध और बीच-बीच में उखड़े हुये वाक्य, कहीं छूटे हुये शून्य स्थल, कहीं अधूरे छूटे प्रसंग, कहीं वाक्य के किसी मर्मस्पर्शी शब्द की आवृत्ति। कहीं प्रभाव वृद्धि के लिये वाक्यों का विपर्यय कर दिया गया है। कहीं वाग्वैचित्र्य का सुन्दर आकर्षक विधान है। अतीत का कल्पना चित्र सजाने और उल्लास, हर्ष और शोक के वातावरण के निर्माण में उनकी शैली नितांत सफल हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पहले दस वर्ष मुख्यतः भाषा-संस्कार में लगे। महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा भाषा संस्कार का काम समाप्त हो जाने और एक सामान्य हिन्दी

शैली के आविष्कार के बाद हिन्दी लेखकों का ध्यान शैलियों की विविधता की ओर गया। पिछले पैंतीस वर्षों में गद्य में शिथिल शैली से लेकर सुष्ठ शैली तक अनेक शैलियों का प्रयोग हुआ और अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग में जहाँ एक ओर अरबी-फारसी प्रधान 'हिन्दुस्तानी' शैली चली, वहाँ दूसरी ओर ऐसी शैली भी चली जिसमें अरबी-फारसी शब्दों का नितांत अभाव था। बीच की शैलियों में विदेशी शब्द अनेक अनुपात में मिलते थे। पिछले १०—१५ वर्षों में शैली की दृष्टि से अनेक नवीन प्रयोग हुये हैं। इनका आरम्भ जैनेन्द्र ने किया। उन्होंने एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक, सतर्क, प्रयासपूर्ण और अहम्-प्रधान शैली का आविष्कार किया। उधर निराला ने गद्य शैली को काव्य तत्वों से अलंकृत किया और वाक्य-योजना में कलात्मक प्रयोग किये। शैली के इन नवीतम प्रयोगों में अज्ञेय, पहाड़ी, नगेन्द्र, महादेवी और रघुवीर सिंह की शैलियाँ हैं। इन नवीन प्रयोगों के मूल में कला और चमत्कार प्रियता की भावनाएँ ही नहीं हैं। आज का लेखक अपनी अनुभूति के प्रति अधिक से अधिक सच्चा होना चाहता है। इसीलिए वह अभिव्यञ्जना के नए-नए प्रयोग करता है और नई नई शैलियाँ गढ़ता है।

गद्य-सुषमा

—:o:—

वैष्णवता और भारतवर्ष

[श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र]

यदि विचार करके देखा जायगा तो स्पष्ट प्रकट होगा कि भारतवर्ष का सब से प्राचीन मत वैष्णव है। हमारे आर्य्य लोगों ने सब से प्राचीन काल में सभ्यता का अवलम्बन किया और इस हेतु क्या धर्म क्या नीति सब विषय के संसार मात्र के ये दीक्षागुरु हैं। आर्यों ने आदि काल में सूर्य ही को अपने जगत् का सब से उपकारी और प्राणदाता समझकर ब्रह्म माना और इसी से इनका मूल मन्त्र गायत्री सूर्यनारायण की उपासना में कहा गया है। सूर्य की किरणें जलों में और मनुष्यों में व्याप्त रहती हैं और इनके द्वारा ही जीवन प्राप्त होता है, इसी से सूर्य का नाम नारायण है। हम लोगों के जगत् के ग्रह मात्र जो सब प्रत्येक ब्रह्माण्ड हैं इन्हीं की आकर्षण शक्ति से स्थिर हैं; इसी से नारायण का नाम अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक है। इसी

सूर्य का वेद में नाम विष्णु है, क्योंकि इन्हीं की व्यापकता से जगत् स्थित है। इसी से आर्यों में सबसे प्राचीन एक ही देवता थे और इसी से उस काल के भी आर्य वैष्णव थे। कालान्तर में सूर्य में चतुर्भुज देव की कल्पना हुई। "ध्येयः सदा सवितृ मंडल मध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।" 'तद्विष्णोः परमं पदम्', 'विष्णोः कर्माणि पश्यत', 'यत्र गावेभूरिश्रृङ्गाः, इदं विष्णुर्विचक्रमे, इत्यादि श्रुति जो सूर्य नारायण के आधिभौतिक ऐश्वर्य की प्रतिपादक थीं, आधिदैविक सूर्य की विष्णुमूर्ति के वर्णन में व्याख्यात हुईं। चाहे जिस रूप से हो वेदों ने प्राचीन काल से विष्णु-महिमा गाई। उसके पीछे उस सूर्य की एक प्रतिमूर्ति पृथ्वी पर मानी गई, अर्थात अग्नि। आर्यों का दूसरा देवता अग्नि है। अग्नि यज्ञ है और 'यज्ञो वै विष्णुः'। यज्ञ ही से रुद्र देवता माने गये। आर्यों के एक छोड़कर दो देवता हुए। फिर तीन और तीन से ग्यारह को त्रिविध करने से तेंतीस और इस तेंतीस से तेंतीस करोड़ देवता हुए। इस विषय का विशेष वर्णन अन्य प्रसंग में करेंगे। यहाँ केवल इस बात को दिखलाते हैं कि वर्त्तमान समय में भी भारतवर्ष से और वैष्णवता से कितना घनिष्ट सम्बन्ध है। किन्तु योरप के पूर्वी विद्या जानने वाले विद्वानों का मत है कि रुद्र आदि आर्यों के देवता नहीं हैं। वह अनार्यों के देवता हैं। इसके वे लोग आठ कारण देते हैं। प्रथम वेदों में लिङ्गपूजा का निषेध है। यथा वसिष्ठ इन्द्र से विनती करते हैं कि हमारी वस्तुओं को 'शिश्नदेव'

(लिंगपूजक) से बचाओ इत्यादि। ऋग्वेद और अन्याय ऋचाओं में भी शिश्नदेवा लोगों को अम्र दस्यु इत्यादि कहा है और रुद्री में रुद्र की स्तुति भयङ्कर भाव से की है। दूसरी युक्ति यह है कि स्मृतियों में लिंगपूजा का निषेध है। प्रोफेसर मैक्समूलर ने वसिष्ठ स्मृति के अनुवाद के स्थल में यह विषय बहुत स्पष्ट लिखा है। तीसरी युक्ति वे यह कहते हैं कि लिंगपूजा और दुर्गा भैरवादिकों के पूजक ब्राह्मण को पंक्ति से बाहर करना लिखा है। चौथी युक्ति यह कहते हैं कि लिंग का तथा दुर्गा भैरवादि का निर्माल्य खाने में पाप लिखा है। पाँचवें शास्त्रों में शिव मंदिर और भैरवादिकों के मंदिर को नगर के बाहर बनाना लिखा है। छठवें वे लोग कहते हैं कि शैव बीज मन्त्र से दीक्षित और शिव को छोड़कर और देवता को न मानने वाले ऐसे शुद्ध शैव भारतवर्ष में बहुत ही थोड़े हैं। या तो शिवोपासक स्मार्त हैं या शाक्त। शाक्त भी शिव को पार्वती के पति समझकर विशेष आदर देते हैं, कुछ सर्वेश्वर समझकर नहीं। जंगमादिक दक्षिण में जो दीक्षित शैव हैं वे बहुत ही थोड़े हैं। शाक्त तो जो दीक्षित होते हैं वे प्रायः कौल ही हो जाते हैं। सौर गाणपत्य की तो कुछ गिनती ही नहीं। किन्तु वैष्णवों में मध्व और रामानुज को छोड़ कर और इनमें भी जो निरे आग्रही हैं वे ही तो साधारण स्मार्तों से कुछ भिन्न हैं, नहीं तो दीक्षित वैष्णव भी साधारण जन-समाज से कुछ भिन्न नहीं और एक प्रकार से अदीक्षित वैष्णव तो सभी हैं। सातवीं युक्ति इन लोगों की यह

है कि जो अनार्य लोग प्राचीन काल में भारतवर्ष में रहते थे और जिनको आर्य लोगों ने जीता था वही शिल्प विद्या नहीं जानते थे और इसी हेतु लिंग ढोंका या सिद्धपीठ इत्यादि पूजा उन्हीं लोगों की है जो अनार्य हैं। आठवें शिव, काली, भैरव इत्यादि के वस्त्र, निवास, आभूषण आदिक सभी आर्यों से भिन्न हैं। श्मशान में वास, अस्थि की माला आदि जैसी इन लोगों को वेष-भूषा शास्त्रों में लिखी है वह आर्योचित नहीं है। इसी कारण शास्त्रों में शिव का, भृगु और दत्त आदि का विवाद कई स्थल पर लिखा है और रुद्र भाग इसी हेतु यज्ञ के बाहर है। यद्यपि ये पूर्वोक्त युक्तियाँ योरोपीय विद्वानों की हैं, हम लोगों से कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु इस विषय में बाहर वाले क्या कहते हैं, केवल यह दिखलाने को यहाँ लिखी गई हैं।

पाश्चिमात्य विद्वानों का मत है कि आर्य लोग जब मध्य एशिया में थे तभी से वे लोग विष्णु का नाम जानते हैं। जारोस्ट्रियन ग्रन्थ जो इरानी और आर्य शाखाओं के भिन्न होने के पूर्व के लिखे हैं उनमें भी वि णु का वर्णन है। वेदों के आरम्भकाल से पुराणों के समय तक तो विष्णु-महिमा आर्य ग्रन्थों में पूर्ण है। वरंच तन्त्र और आधुनिक भाषा ग्रंथों में उसी भाँति एकछत्र वि णु महिमा का राज्य है।

पण्डितवर बाबू राजेन्द्र लाल मित्र ने वैष्णवता के काल को पाँच भाग में विभक्त किया है। यथा (१) वेदों के आदि समय की वैष्णवता, (२) ब्राह्मण के समय की वैष्णवता, (३) पाणिनि

के और इतिहासों के समय की वैष्णवता, (४) पुराणों के समय की वैष्णवता, (५) आधुनिक समय की वैष्णवता ।

वेदों के आदि समय से विष्णु की ईश्वरता कही गई है। ऋग्वेद संहिता में विष्णु की बहुत सी स्तुति है। विष्णु को किसी विशेष स्थान का नायक या किसी विशेष तत्व वा कर्म का स्वामी नहीं कहा है, वरंच सर्वेश्वर की भाँति स्तुति किया है। यथा, विष्णु पृथ्वी के सातों तहों पर फैला है। विष्णु ने जगत् को अपने तीन पैर के भीतर किया। जगत् उसी के रज में लिपटा है। विष्णु के कर्मों को देखो जो कि इन्द्र का सखा है। ऋषियो ! विष्णु के ऊँचे पद को देखो, जो एक आँख की भाँति आकाश में स्थिर है। पण्डितो ! स्तुति गाकर विष्णु के ऊँचे पद को खोजो। इत्यादि। ब्राह्मणों ने इन्हीं मन्त्रों का बड़ा विस्तार किया है और अब तक यज्ञ, होम, श्राद्ध आदि सभी कर्मों में ये मन्त्र पढ़े जाते हैं। ऐसे ही और स्थानों में विष्णु को जगत् का रक्षक, स्वर्ग और पृथ्वी का बनाने वाला, सूर्य्य और अंधेरे का उत्पन्न करने वाला इत्यादि लिखा है। इन मन्त्रों में विष्णु के विषय में रूप का परिचय इतना ही मिलता है कि उसने अपने तीन पदों से जगत् को व्याप्त कर रखा है। यास्क ने निरुक्त में अपने से पूर्व के दो ऋषियों का मत इसके अर्थ में लिखा है। यथा शाक मुनि लिखते हैं कि ईश्वर का पृथ्वी पर रूप अग्नि है, वन में विद्युत् है और आकाश में सूर्य है। सूर्य की पूजा किसी समय समस्त पृथ्वी में होती थी यह अनुमान होता है। सब भाषाओं में

अद्यापि यह कहावत प्रसिद्ध है कि उठते हुए सूर्य को सब पूजते हैं।' (अरुणभाव सूर्य के उदय, मध्य और अस्त की अवस्था को तीन पद मानते हैं।) दुर्गाचार्य अपनी टीका में उसी मत को पुष्ट करते हैं। सायणाचार्य विष्णु के वावन अवतार पर इस मन्त्र को लगाते हैं। किन्तु यज्ञ और आदित्य ही विष्णु हैं, इस बात को बहुत लोगों ने एकमत होकर माना है। अस्तु विष्णु उस समय आदित्य ही को नामान्तर से पुकारा है कि स्वयं विष्णु देवता आदित्य से भिन्न थे, इसका झगड़ा हम यहाँ नहीं करते। यहाँ यह सब लिखने से हमारा केवल यह आशय है कि अति प्राचीन काल से विष्णु हमारे देवता हैं। अग्नि, वायु और सूर्य यह तीनों रूप विष्णु के हैं; इन्हीं से ब्रह्मा, शिव और विष्णु यह तीन मूर्तिमान् देव हुए हैं।

ब्राह्मण के समय में विष्णु की महिमा सूर्य से भिन्न कहकर विस्तार रूप से वर्णित है और शतपथ, ऐतरेय और तैत्तिरीय ब्राह्मण में देवताओं का द्वारपाल देवताओं के हेतु जगत् का राज्य बचानेवाला इत्यादि कहकर लिखा है।

इतिहासों में रामायण और भारत में विष्णु की महिमा स्पष्ट है, वरंच इतिहासों के समय में विष्णु के अवतारों का पृथ्वी पर माना जाना भी प्रकट है। पाणिनि के समय के बहुत पूर्व कृष्णावतार, कृष्णपूजा और कृष्णभक्ति प्रचलित थी, यह उनके सूत्र ही से स्पष्ट है। यथा जीविकार्थे चापण्ये वासुदेव. ।।५।।३।।९९।।० कृष्णं नमेच्चेत सुखं यायात ।३।३।१५ ई० वासुदेवे

भक्तिरस्य वासुदेवक: ॥४॥३॥९८॥० और प्रद्युम्न. अनिरुद्ध और सुभद्रा नाम इत्यादि के पाणिनि के लिखने ही से सिद्ध है कि उस समय के अतिपूर्वक कृष्णावतार की कथा भारतवर्ष में फैल गई थी। यूनानियों के उदय के पूर्व पाणिनि का समय सभी मानते हैं। विद्वानों का मत है कि क्रम से पूजा के नियम भी वदल यथा पूर्व में यज्ञाहुति, फिर वलि और अष्टांग पूजा आदि हुई और देव विषयक ज्ञान की वृद्धि के अन्त में सव पूजन आदि से उसकी भक्ति श्रेष्ठ मानी गई है।

पुराणों के समय में तो विधिपूर्वक वैष्णव मत फैला हुआ था, यह सव पर विदित हो है। वैष्णव पुराणों की कौन कहे, शक्ति और शैव पुराणों में भी उन देवताओं की स्तुति उनको विष्णु से सम्पूर्ण भिन्न करके नहीं कर सके हैं। अव जैसा वैष्णवमत माना जाता है उसके वहुत से नियम पुराणों के समय से और फिर तंत्रों के समय से चले हैं। दो हजार वर्ष की पुरानी मूर्तियाँ वाराह, राम, लक्ष्मण और वासुदेव की मिली हैं और उन पर भी खुदा हुआ है कि उन मूर्तियों की स्थापना करने वालों का वंश भागवत अर्थात् वैष्णव था। राजतरंगिणी के देखने से राम, केशव आदि मूर्तियों की पूजा यहाँ वहुत दिन से प्रचलित है, यह स्पष्ट हो जाता है। इससे इसकी नवीनता या प्राचीनता का झगड़ा न करके यहाँ थोड़ा सा इस अदल-वदल का कारण निरूपण करते हैं।

प्रथमत: कर्म मार्ग में फँसकर लोग अनेक देवी-देवों को

पूजते हैं, किन्तु बुद्धि का यह प्रकृत धर्म है कि यह ज्यों-ज्यों समुज्ज्वल होती है अपने विषय मात्र को उज्ज्वल करती जाती है। थोड़ी बुद्धि बढ़ने ही से यह विचार चित्त में उत्पन्न होता है कि इतने देवी देव इस अनन्त सृष्टि के नियामक नहीं हो सकते, इसका कर्त्ता स्वतन्त्र कोई विशेष शक्ति-सम्पन्न ईश्वर है। तब उसका स्वरूप जानने की इच्छा होती है, अर्थात् मनुष्य कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड में आता है। ज्ञानकाण्ड में सोचते-सोचते मगति और रुचि के अनुसार या तो मनुष्य फिर निरीश्वरवादी हो जाता है या उपासना में प्रवृत्त होता है। उस उपासना की भी विचित्र गति है। यद्यपि ज्ञानवृद्धि के कारण प्रथम मनुष्य साकार उपासना छोड़कर निराकार की ओर रुचि करता है, किन्तु उपासना करते करते जहाँ भक्ति का प्राबल्य हुआ वहीं अपने उस निराकार उपास्य को भक्त फिर साकार करने लगता है। बड़े-बड़े निराकारवादियों ने भी "प्रभो दर्श दो। अपने चरण-कमलों को हमारे सिर पर स्थान दो, अपनी साधुमयी वाणी श्रवण कराओ", इत्यादि प्रयोग किया है। वैसे ही प्रथम सूर्य पृथ्वीवासियों को सबसे विशेष आचार्य और शुभकारी वस्तु बोध हुई, उससे फिर उनमें देवबुद्धि हुई। देवबुद्धि होने ही से आधिभौतिक सूर्यमण्डल के भीतर एक आधिदैविक नारायण लाये गये। फिर अन्त में यह कहा गया कि नारायण एक सूर्य ही में नहीं सर्वत्र हैं, और [illegible]

हैं। अर्थात् आध्यात्मिक नारायण की उपासना में लोगों की प्रवृत्ति हुई।

इन्हीं कारणों से वैष्णवमत की प्रवृत्ति भारतवर्ष में स्वाभाविक है। यद्यपि यह निर्णय करना अब अति कठिन है कि अति प्राचीन के ध्रुव, प्रह्लाद आदि मध्यावस्था के उद्धव, आरुणि परीक्षितादिक और नवीन काल के वैष्णवाचार्यों के खान-पान, रहन सहन, उपासना-रीति, वाह्य चिन्ह आदि में कितना अन्तर पड़ा है, किन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि विष्णु-उपासना का मूल सूत्र अति प्राचीन काल से अनवच्छिन्न चला आता है। ध्रुव, प्रह्लादादि वैष्णव तो थे किन्तु अब के वैष्णवों की भाँति कंठी, तिलक, मुद्रा लगा थे और माँस आदि नहीं खाते थे, इन बातों का विश्वस्त प्रमाण नहीं मिलता। ऐसे ही भारतवर्ष में जैसी धर्म रुचि अब है उससे स्पष्ट होता है कि आगे चल कर वैष्णव मत में खाने-पीने का विचार छूटकर बहुत सा अदल-बदल अवश्य होगा। यद्यपि अनेक आचार्यों ने इसी आशा से मत प्रवृत किया कि इसमें सब मनुष्य समानता लाभ करें और परस्पर खानपानादि से लोगों में ऐक्य बढ़े तथा किसी जाति वर्ण देश का मनुष्य क्यों न हो वैष्णव पंक्ति में आ सके, किन्तु उन लोगों की उदार इच्छा भली-भाँति पूरी नहीं हुई, क्योंकि स्मार्त मत की और ब्राह्मणों की विशेष हानि के कारण इस मत के लोगों ने उस समुन्नत भाव से उन्नति को रोक दिया, जिससे अब वैष्णवों में छुआछूत सब से बढ़ गया।

बहुदेवोपासकों को घृणा देने के अर्थ वैष्णवातिरिक्त और किसी का स्पर्श बचाते वहाँ तक एक बात थी, किन्तु अब तो वैष्णवों ही में ऐसा उपद्रव फैला है कि एक सम्प्रदाय के वैष्णव दूसरे सम्प्रदाय वाले को अपने मंदिर में और अपने खान-पान में नहीं लेते और 'सात कनौजिया नौ चूल्हे, वाली मसल हो गई। किन्तु काल की वर्तमान गति के अनुसार यह लक्षण उनकी अवनति के हैं। इस काल में तो इसकी तभी उन्नति होगी जब इसके बाह्य व्यवहार और आडम्बर में न्यूनता होगी और एकता बढ़ाई जायगी और आन्तरिक उपासना की उन्नति की जायगी। यह काम ऐसा है कि लोग उसी मत को विशेष मानेंगे जिसमें बाह्य देहकष्ट न्यून हो। यद्यपि वैष्णव धर्म भारतवर्ष का प्रकृत धर्म है इस हेतु उसकी ओर लोगों की रुचि होगी, किन्तु उसमें अनेक संस्कारों की अतिशय आवश्यकता है। प्रथम तो गोस्वामीगण अपना रजोगुणी तमोगुणी स्वभाव छोड़ेंगे तब काम चलेगा। गुरु लोगों में एक तो विद्या ही नहीं होती, जिसके न होने से शील, नम्रता आदि उनमें कुछ नहीं होते। दूसरे या तो वे अति रूखे कोपी होते हैं या अतिविलासलालस होकर स्त्रियों की भाँति सदा दर्पण ही देखा करते हैं। अब वह सब स्वभाव उनको छोड़ देना चाहिए क्योंकि इस उन्नीसवीं शताब्दी में वह अन्धा जाड्य अब नहीं बाकी है। अब कुकर्मी गुरु का भी चरणामृत लिया जाय वह दिन दूर पर पर गये। जितने बुड्ढे लोग अभी तक जीते हैं उन्हीं के शील संकोच से

प्राचीन धर्म इतना भी चल रहा है। बीस-पच्चीस वर्ष पीछे फिर कुछ नहीं है। अब तो गुरु गोसाईं का चरित्र ऐसा होना चाहिये कि जिसको देख सुनकर लोगों में श्रद्धा से स्वयं चित्त आकृष्ट हो। स्त्री जनों का मंदिरों से सहवास निवृत्त किया जाय। केवल इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की केलि-कथा जो अति रहस्यमयी होने पर भी बहुत परिमाण से जगत में प्रचलित है वह केवल अन्तरंग उपासकों पर छोड़ दी जाय, उनके महात्म्य, मत, विशद चरित्र का महत्व यथार्थ रूप से व्याख्या करके सबको समझाया जाय। रास क्या है, गोपी कौन हैं, यह सब रूपक अलंकार स्पष्ट करके श्रुति-सम्मत उनका ज्ञान वैराग्य भक्तिबोधक का अर्थ किया जाय। यह भी दबी जीभ से हम डरते डरते कहते हैं कि व्रत, स्नान आदि भी वहीं तक रहे जहाँ तक शरीर को अति कष्ट न हो। जिस उत्तम उदाहरण द्वारा स्थापक आचार्य गण ने आत्मसुख विसर्जन करके भक्ति-सुधा से लोगों को प्लावित कर दिया था उसी उदाहरण से अब भी गुरु लोग धर्म-प्रचार करें। बाह्य आग्रहों को छोड़कर केवल आन्तरिक उन्नत प्रेममयी भक्ति का प्रचार करें, देखे कि दिग्दिगन्त से हरि-नाम की कैसी ध्वनि उठती है और विधर्मीगण भी इसको सिर झुकाते हैं कि नहीं, और सिक्ख, कबीरपन्थी आदि अनेक दल के हिन्दूगण भी सब आप से आप वैर छोड़कर इस उन्नत समाज में मिल जाते हैं कि नहीं।

जगत्-प्रवाह

[श्री बालकृष्ण भट्ट]

वेगगामी झरने, नदियाँ, समुद्र इत्यादि का प्रवाह रुक जा सकता है; प्रद्योतित बुद्धि के नई अकिल वाले इस समय के विज्ञानियों ने अनेक ऐसे यंत्र, औजार और कलें ईजाद की हैं, जिनके द्वारा वे तीखी से तीखी धाराओं के प्रवाह को रोक दे सकते हैं या उनके प्रवाह को उलट दे सकते हैं। किन्तु आज तक ऐसा कोई बुद्धिमान न हुआ जो जगत के प्रवाह को रोक देता या उसे एक ओर से दूसरी ओर को पलट देता। चौकसी के साथ अनुसन्धान करते रहो तो पता लग जाता है कि अमुक नदी या झरने के प्रवाह का प्रारम्भ कहाँ से है, कब से है और कब तक रहेगा। पर जगत के प्रवाह का प्रारम्भ कब से है, कहाँ से है और कब तक रहेगा, इसका कुछ पता नहीं लगता। बुद्धिमानों ने इस विषय में भाँति भाँति के अनुमान किये हैं और अकिल भिड़ाया है सही; पर ठीक ऐसा ही है यह निश्चय किसी को न हुआ। सच तो यों है, जब तक यह प्रवाह अपने पूर्ण वेग से चला जाता है तभी तक कुशल है। जरा सा मन्द पड़ा या एक निमेष

मात्र को भी रुका कि कयामत या प्रलय का सामान जुट जाते देर नहीं लगती। योगाभ्यासी तथा वेदान्ती मन को मार शान्ति शान्ति पुकारते हैं यह नहीं विचारते कि जगत् के प्रवाह में पड़े हुए को शांति कहाँ ? जमशेद, दारा, सिकन्दर से प्रबल प्रतापियों की कौन कहे, राम, युधिष्ठिर सरीखे जो अंशावतार माने गये हैं, जगत् के प्रवाह में पड़ उनका भी कहीं ठिकाना न लगा। प्रातःकालीन गगन-मंडल के एक देश में नक्षत्र-समूह-सदृश थोड़े समय तक जगमगाते हुए इस प्रवाह में पड़ न मालूम कहाँ विलाय गये।

यह प्रवाह ऐसा प्रचण्ड है कि एक-दो मनुष्य की क्या, देश के देश को अपनी एक लहर में बटोर न जानिये कहाँ ले जा फेंकता है—जहाँ कई करोड़ मनुष्य बसते थे, जहाँ के लोग मनुष्य-जाति के सिर-मौर थे, जो देश सभ्यता की सीमा था, वह इस प्रचंड जगत-प्रवाह में पड़ ऐसा अस्त हुआ कि उसकी पुरानी बातें किस्से-कहानियों का मजमून और चण्डूबाजों की गप्पें हो गई और जगत् का प्रवाह जैसे का तैसा बना ही रहा। प्राचीन भारत, प्राचीन पारस, प्राचीन यूनान, प्राचीन रोम, इसके निदर्शन हैं। इस प्रवाह में पड़ा हुआ जिसे जो सवार है वह अपने गीत गाये जाता है, अपने स्थिर निश्चय और उत्साह से जरा मुँह नहीं मोड़ता।

पुराने आर्यों ने इस प्रवाह को त्रिगुण-विभाग माना है। जहाँ जिस भूभाग में जब इस प्रवाह का वेग सीधा और मनुष्य

जाति के अनुकूल रहा, प्रकृति के सब काम जब तक स्वभाव अनुसार होते रहे तब तक वहाँ सतयुग या सतोगुण का उदय रहा। वहाँ के स्थावर जंगम सर्जित पदार्थ मात्र में सात्विक भाव का प्रकाश रहा। प्रत्येक मनुष्य यावत् अभ्युदय और स्वर्ग-सुख का अनुभव करते हुये कृतकृत्य पूर्णकाम और आप्त-काम रहे। किसी अंश में कहीं पर से किसी तरह की किसी त्रुटि का नाम न रहा।

"कृतकृत्या प्रजाजात्यातस्मात्कृतयुगंविदुः।"

इसी को उन्नति, तरक्की, सभ्यता, उदार भाव, स्वतन्त्रता जो चाहो सो कहो।

भारत में न जानिये कै बार उस प्रवाह की प्रेरणा से चक्रवत् पलटा खाने सतोगुण का उदय हो चुका है। सतोगुण में क्रम-क्रम हानि और घटती का होना ही रजोगुण है, जिसके प्रादुर्भाव में प्रमाद, आलस्य, तृष्णा, स्वार्थ, परदृष्टि, हिंसा अपने और पराये की निर्स, बहुत विभव भाव आदि बढ़ जाता है। विलायत में इन दिनों रजोगुण बहुत ही चढ़ा-बढ़ा है बल्कि युग-संध्या के क्रम पर तमोगुण की तरक्की होती जाती है। वह प्रवाह जब तमोगुण के साथ टकराता है तब राग, द्वेष, वैर, फूट, ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा, पैशुन्य, विषयलंपटता, चित्त की क्षुद्रता और कदर्यता बढ़ती है। कालचक्र की वक्र गति हिन्दुस्तान में इसी तमोगुण को प्रकाशित कर रही है जिसे अवनति, तनज्जुली, घटती, पतनता, पराधीनता, विनाश चाहे जिस नाम से पुकारो तुम्हें

अधिकार है। उनकी तो वात ही और है जो इसमें पगे हुये इसी को वड़ा भारी सुख मान रहे हैं। नहीं तो नरक के प्राणी भी हम ऐसों के पराधीन निकृष्ट जीवन से अधिक श्रेष्ठ और सुखी हैं। यहाँ पर हमारे एक प्रिय मित्र का कहना हमें याद आता है जिनका सिद्धान्त है कि मरने के वाद रूह को फिर जन्म लेना पड़ता है। यह ख्याल सच है तो हिन्दुस्तान के नारकिक समाज के वीच नरक भूमि में जन्म ले पराधीन जीवन से सहारा के रेगिस्तान में भी स्वच्छन्द जीवन अच्छा। भागवत के उस श्लोक का लिखने वाला हमें इस समय मिलता तो कम से कम गिन के तीन गहरी चपत उसे जमाते, जिसने लिखा है कि स्वर्ग में देवगण भी सोचते हैं और इस वात के लिए तरसते हैं कि भारत की कर्म-भूमि में किसी तरह एक वार हमारा जन्म होता तो हम अपने जन्म को सफल करते। वड़े नामी लेखक जिन्होंने इस प्रवाह के अन्तर्गत किसी वुराई के संशोधन के लिये हजारों पेज लिख डाला, प्रसिद्ध वक्ता जिन्होंने चाहा कि हम एक छोर से दूसरे तक अपनी मेघ-गंभीर वक्तृता और आवाज से उन वुराइयों को उच्छिन्न कर दें, पर उनका वह परिश्रम उस प्रवल प्रवाह-सागर में एक विन्दु भी न हुआ और उस उनके लेख और वक्तृता का अणुमात्र भी कहीं असर न देखा गया। हमने वहुत चाहा कि वाल-विवाह कुरीति को अपने वीच से हटा दें। कोई अंक ऐसा नहीं जाता जिसमें दो-एक मजवूत धक्के इस कुरीति के प्रवल प्रवाह को न देते हों, किन्तु एक आदमी को भी अपने पन्थ में न ला

सके। प्रकृति के नियमों में कुछ ऐसी मोहिनी शक्ति है कि कोई कितना ही इस प्रवाह से बचा चाहे, नहीं बच सकता। सच है —

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्।
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालोपि न ज्ञायते॥
दृष्ट्वाजन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमाद-मदिरामुन्मत्त भूतं जगत्॥

सूर्य देव के प्रति दिन उदय और अस्त से आयुष्य घटती जाती है। कार्य के बोझ से लदे हुये अनेक व्यापार में व्यापृत, बारबार जन्म लेना, बुढ़ा जाना, अनेक प्रकार की विपत्ति और मरण देख किसी को त्रास नहीं होता। मोहमयी प्रमाद मदिरा को पीकर संपूर्ण जगत् उन्मत्त हो रहा है। इस तरह के महा-प्रवाह पूर्ण भव-सागर के पार होने को धैर्य एक मात्र उत्तम उपाय है। सच है "धीरज धरे सो उतरे पारा"। और भी भारत के वनपर्व में इस जनम-मरन महानदी के प्रवाह का बहुत उत्तम रूपक दर्शाय धैर्य को नौका-रूप एक मात्र अवलंब निश्चय किया है, यथा —

कामलोभनक्राकीर्णां पंचेन्द्रिय जलां नदीम्।
नाव धृतिमयीं कृत्वा जन्म दुर्गाणि सन्तर॥

भाँति-भाँति की कामना और लोभ नक्र-मक्र पूर्ण पाँच इन्द्रियों के विषय जिस नदी का जल रूप प्रवाह है, उसके पार जाना चाहे तो धैर्य की नौका पर चढ़ फिर-फिर जनम-मरन के महीन से छूट सकता है।

पंच परमेश्वर

[श्री प्रतापनारायण मिश्र]

पंचत्व से परमेश्वर सृष्टि-रचना करते हैं। पंचसम्प्रदाय में परमेश्वर की उपासना होती है। पंचामृत से परमेश्वर की प्रतिमा का स्नान होता है। पंच वर्ष तक के बालकों से परमेश्वर इतना ममत्व रखते हैं कि उनके कर्त्तव्याकर्त्तव्य की ओर ध्यान न देके सदा सब प्रकार रक्षण किया करते हैं। पंचेन्द्रिय के स्वामी को वश कर लेने से परमेश्वर सहज में वश हो सकते हैं। काम पंचबाण को जगत् जय करने की, पंचगव्य को अनेक पाप हरने की, पंचप्राण का समस्त जीवधारियों के सर्वकार्य सम्पादन की, पंचत्व (मृत्यु) को सारे झगड़े मिटा देने की, पंचरत्न को बड़े-बड़ों का जी ललचाने की सामर्थ्य परमेश्वर ने दे रक्खी है।

धर्म में पंचसंस्कार, तीर्थों में पंचगंगा और पंचकोसी, मुसलमानों में पंच पवित्र आत्मा (पाक पेजतन) इत्यादि का गौरव देख के विश्वास होता है कि पंच शब्द से परमेश्वर बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखता है। इसी मूल पर हमारे नीति-विदांम्बर पूर्वजों

ने उपर्युक्त कहावत प्रसिद्ध की है जिसमें सर्वसाधारण संसारी, व्यवहारी लोग (यदि परमेश्वर को मानते हों तो) पञ्च अर्थात् अनेक जनसमुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझें। क्योंकि परमेश्वर निराकार निर्विकार होने के कारण किसी को बाह्य चक्षु के द्वारा न दिखाई देता है, न कभी किसी ने उसे कोई काम करते देखा, पर यह अनेक बुद्धिमानों का सिद्धान्त है कि जिस बात को पंच कहते या करते हैं वह अनेकांश में यथार्थ ही होती है। इसी से—

"पाँच पंच मिलि कीजे काज, हारे जीते होय न लाज"

तथा—

"बजा कहे जिसे आलम उसे बजा समझो,
जबाने खल्क को नक्कारए खुदा समझो।"

इत्यादि वचन पढ़े लिखों के हैं। और 'पाँच पंच की भाषा अमिट होती है', 'पंचन का बैर के कै को तिष्ठा है' इत्यादि वाक्य साधारण लोगों के मुँह में से बात-बात पर निकलते रहते हैं। विचार कर देखिए तो इसमें कोई सन्देह भी नहीं है कि—

"जब जेहि रघुपति करहिं जस, सो तस तेहि छिन होय"

की भाँति पंच भी जिसको जैसा ठहरा देते हैं वह वैसा ही बन जाता है। आप चाहे जैसे बलवान, धनवान, विद्वान् हों, पर यदि पंच की मर्जी के खिलाफ चलिएगा तो अपने मन में चाहे जैसा बने बैठे रहिए, पर संसार से आपका या आपसे संसार का कोई भी काम निकलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य

हो जायगा। हाँ, सब झगड़े छोड़कर विरक्त हो जाइए तो और बात है। पर, उस दशा में भी पंचभूत देह एवं पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेन्द्रिय का झंझट लगा ही रहेगा। इसी से कहते हैं कि पंच का पीछा पकड़े बिना किसी का निर्वाह नहीं। क्योंकि पंच जो कुछ कहते हैं, उसमें परमेश्वर का संसर्ग अवश्य रहता है, और परमेश्वर जो कुछ करता है वह पंच ही के द्वारा सिद्ध होता है। वरंच यह कहना भी अनुचित नहीं है कि पंच न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता। पृथ्वी पर के नदी, पर्वत, वृक्ष, पशु, पक्षी और आकाश के सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, नक्षत्रादि से परमेश्वर की महिमा विदित होती सही पर किसको विदित होती? अकेले परमेश्वर ही अपनी महिमा लिए बैठे रहते।

सच पूछो तो परमेश्वर को भी पंच से बड़ा सहारा मिलता है। जब चाहा कि अमुक देश को पृथ्वी भर का मुकुट बनावें बस आज एक, कल दो, परसों सौ के जी में सद्गुणों का प्रचार करके पंच लोगों को श्रमी, साहसी, नीतिमान्, प्रीतिमान् बना दिया। कंचन बरसने लगा। जहाँ जी में आया कि अमुक जाति अब अपने बल, बुद्धि, वैभव के घमंड के मारे बहुत उन्नतग्रीव हो गई है, इसका सिर फोड़ना चाहिए, वहीं दो चार लोगों के द्वारा पंच के हृदय में फूट फैला दी। बस, बात की बात में सब के करम फूट गये। चाहे जहाँ का इतिहास देखिए, यही अवगत होगा कि वहाँ के अधिकांश लोगों की चित्तवृत्ति का परिणाम ही उन्नति या अवनति का मूल कारण होता है।

जब जहाँ के अनेक लोग जिस ढर्रे पर झुके होते हैं तब थोड़े से लोगों का उसके विरुद्ध पदार्पण करना—चाहे अति-श्लाघनीय उद्देश्य से भी हो—अपने जीवन को कंटकमय करना है। जो लोग संसार का सामना करके दूसरों के उद्धारार्थ अपना सर्वस्व नाश करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं वे मरने के पीछे यह अवश्य पाते हैं, पर कब ? जब उस काल के पंच उन्हें अपनाते हैं, तभी; पर ऐसे लोग जीते जी आराम से छिन भर नहीं बैठने पाते, क्योंकि पंच की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है, और परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना पाप है, जिसका दण्ड-भोग किए बिना किसी का बचाव नहीं। इसमें महात्मापन काम नहीं आता। पर ऐसे पुरुषरत्न कभी कहीं सैकड़ों सहस्रों वर्ष पीछे लाखों करोड़ों में से एक आध दिखाई देते हैं। सो भी किसी ऐसे काम की नींव डालने का जिसका बहुत दिन आगे पीछे लाखों लोगों को शान-गुमान भी नहीं होता। अत: ऐसों को संसार में गिनना ही व्यर्थ है। वे अपने बैकुण्ठ, कैलाश, गोलोक, हेविन, बहिश्त कहीं से आ जाते होंगे। हमें उनसे क्या ! हम सांसारिकों के लिए तो यही सर्वोपरि सुख साधन का उपाय है कि हमारे पंच यदि सचमुच विनाश की ओर जा रहे हों तो भी उन्हीं का अनुगमन करें। तो देखेंगे कि दुख में भी एक अपूर्व सुख मिलता है। जैसा कि अगले लोग कह गए हैं कि—

"पंचो शामिल मर गया जैसे गया बरात"

"मर्ग-अम्बोह जश्ने दारद।"

जिसके जाति, कुटुम्ब, हेती-व्यवहारी, इष्ट-मित्र, अड़ोसी-पड़ोसी में से एक भी मर जाता है उसके मुँह से यह कभी नहीं निकलता कि परमेश्वर ने दया की, क्योंकि जब परमेश्वर ने पंचों में से एक अंश खींच लिया तो दया कैसी। वरंच यह कहना चाहिये कि हमारे जीवन की पूँजी में से एक भाग छीन लिया। पर अनुमान करो कि यदि किसी पुरुष के इष्ट-मित्रों में से कोई न रहे तो उसके जीवन की क्या दशा होगी। क्या उसके लिये जीने से मरना अधिक प्रिय न होगा? फिर इसमें क्या संदेह है कि पंच और परमेश्वर कहने को दो हैं, पर शक्ति एक ही रखते हैं जिस पर यह प्रसन्न होंगे वही उनकी प्रसन्नता का प्रत्यक्ष फल लाभ कर सकता है। जो इनकी दृष्टि में तिरस्कृत है वह उसकी दृष्टि में भी दयापात्र नहीं है। अपने ही लो वह कैसा ही अच्छा क्यों न हो, पर इसमें मीन-मेख नहीं है कि संसार में उसका होना न होना बराबर होगा। मरने पर भी अकेला वैकुण्ठ में क्या सुख देखेगा। इसीसे कहा है—

"जियत हंसी जो जगत में, मरे मुक्ति केहि काज"

क्या कोई सकल सद्गुणालंकृत व्यक्ति समस्त सुख-सामग्री संयुक्त, सुवर्ण के मंदिर में भी एकाकी रह के सुख से कुछ काल रह सकता है? ऐसी-ऐसी बातों को देख, सुन, सोच-समझ के भी जो लोग किसी डर या लालच या दबाव में फँस के पंच के विरुद्ध हो बैठते हैं, अथवा दोषियों का पक्ष समर्थन करने लगते

हैं वे हम नहीं जानते कि परमेश्वर, (प्रकृति) दीन, ईमान, धर्म कर्म, विद्या, बुद्धि, सहृदयता और मनुष्यत्व को क्या मुँह दिखाते होंगे ? हमने माना कि थोड़े से हठी, दुराग्रही लोगों के द्वारा उन्हें मन का धन, कोरा पद, झूठी प्रशंसा मिलनी सम्भव है पर इसके साथ अपनी अन्तरात्मा (कान्शेन्स) के गले पर छुरी चलाने का पाप तथा पंचों का श्राप भी ऐसा लग जाता है कि जीवन को नर्कमय कर देता है और एक न एक दिन अवश्य भंडा फूट के सारी शेखी मिटा देता है। यदि ईश्वर की किसी हिकमत से जीते जी ऐसा न भी हो तो मरने के पीछे आत्मा की दुर्गति, दुर्नाम, अपकीर्ति एव संतान के लिए लज्जा तो कहीं गई ही नहीं। क्योंकि पंच का बैरी परमेश्वर का वैरी है, और परमेश्वर के बैरी के लिए कहीं शरण नहीं है—

'राखि को सकै राम कर द्रोही'

पाठक ! तुम्हें परमेश्वर की दया और बड़े बूढ़ों के उद्योग से विद्या का अभाव नहीं है। अतः आँखें पसार के देखो कि तुम्हारे जीवन काल में पढ़ी-लिखी सृष्टि वाले पच किस ओर झुक रहे हैं, और अपने ग्रहण किए हुए मार्ग पर किस दृढ़ता, वीरता और अकृत्रिमता से जा रहे हैं कि थोड़े से विरोधियों की गाली धमकी तो क्या, वरंच लाठी तक खाके हतोत्साह नहीं होते, और स्त्री-पुत्र, धन-जन क्या, वरंच आत्मविसर्जन तक का उदाहरण दनने को प्रस्तुत हैं। क्या तुम्हें भी उसी पथ का अवलंबन करना मंगलमय न होगा ? यदि बहकाने वाले रोचक और

भयानक बातों से लाख बार करोड़ प्रकार समझाए तो भी ध्यान न देना चाहिये । इस बात को यथार्थ समझना चाहिए कि पंच ही का अनुकरण परम कर्त्तव्य है। क्योंकि पंच और परमेश्वर का बड़ा गहिरा सम्बन्ध है। बस इसी मुख्य बात पर अचल विश्वास रख के पंच के अनुकूल मार्ग पर चले जाइये तो दो ही चार मास में देख लीजिएगा कि बड़े-बड़े लोग आपके साथ बड़े स्नेह से सहानुभूति करने लगेंगे, और बड़े-बड़े विरोधी साम, दाम, दंड, भेद से भी आप का कुछ न कर सकेंगे, क्योंकि सब से बड़े परमेश्वर हैं और उन्होंने अपनी बड़ाई के बड़े-बड़े अधिकार पंच महोदय को दे रखे हैं। अतः उनके आश्रित, उनके हितैषी, उनके कृपापात्र के भी कहीं किसी के द्वारा वास्तविक अनिष्ट नहीं हो सकता। इससे चाहिये कि इसी क्षण भगवान पंचवक्र का स्मरण करके पंच परमेश्वर के हो रहिए तो सदा सर्वदा पंचपांडव की भाँति निश्चिंत रहिएगा।

सब मिट्टी हो गया

[श्री माधव प्रसाद मिश्र]

"चाचा! चाचा! सब मिट्टी हो गया! जो खिलौना आप दिल्ली से लाए थे, उसे श्रीधर ने तोड़-फोड़ कर मिट्टी कर दिया।"

एक दिन मैं अपने घर में अकेला बैठा दिल्ली के भारतधर्म महामण्डल का "मन्तव्य" पत्र पढ़ रहा था। मेरा ध्यान उसमें ऐसा लग रहा था, कि मानों कोई उपासक अपने उपास्य का साक्षात्कार कर रहा है। इसका कारण यह था कि मेरी इस सभा पर बहुत ही दिनों से विशेष भक्तिभावना हो रही थी। क्योंकि यह महासभा, मारवाड़ी बाबुओं के बगीचे की सभा न थी, जिसमें नाच-कूद के शौकीन लड्डू-कचौरी के यार केवल भोजन-भट्ट मित्रों का स्वागत-समागम ही बड़ी वस्तु समझी जाती है और न यह 'थियेटर' के राजा इन्द्र का अखाड़ा था, जिसका उद्देश्य यह होता है, कि थोड़ी देर के लिए नयनाभिराम मनोहर दृश्य दिखा कर अर्थोपार्ज्जन वा कौतुकप्रिय अमीरों को खुश किया जाय।

यह सभा सनातनधर्म की सभा थी, जननी जन्मभूमि की सुसन्तान की महासभा थी। यह वह सभा थी जिसके अग्रगन्ता एक दिन धन को धर्म पर वार चुके थे, प्रतिष्ठा को कर्तव्य के हाथ बेच चुके थे, इन्द्रियासक्ति को स्वयं ही दबा चुके थे। इनकी शत्रुता मित्रता धर्म पर स्थित थी, व्यवहार पर नहीं। इन्द्रियलोलुप बड़े आदमियों पर इनकी घृणा थी और धर्मात्मा दरिद्र भी इन्हें प्यारे थे।

यह सभा वही विख्यात सभा थी जो बारह वर्षों से भारतवर्ष में सनातनधर्म और संस्कृत विद्या के प्रचार करने का बीड़ा उठाए फिरती है। इसलिये इस महासभा से पुराने वृद्ध पण्डित और धर्मात्मा जन आशा करते थे, कि यह देश के अनाचार दुराचारादि की निवृत्ति करेगी और सदाचार की प्रवृत्ति। इससे धर्म की जय होगी और साथ ही धर्मप्रतारक लम्पटों को भय होगा; बालक सुशिक्षित बनेंगे और स्त्रियाँ निंदित न होंगी; मूर्खों की धृष्टता बढ़ने न पावेगी और विद्वानों का तिरस्कार न होगा, पापियों की प्रतिष्ठा न होगी और धार्मिकों का उत्साह बढ़ेगा।

इस महासभा में अब की बार दर्भंगा और अयोध्या के महाराज बहादुर का बहुमूल्य और अन्वर्थ शुभागमन सुन कर यह नतीजा मेरे सरल अन्तःकरण ने पहिले ही से निकाल लिया था कि इस बार केवल पुराने प्रस्तावों का पिष्टपेषण वा मन्तव्यपत्र का शुष्क पाठ मात्र ही न होगा, कोई सच्ची उदारता का मूर्तिमान उदा-

हरण भी दृष्टिगोचर होगा । अतएव मैं मन्तव्यपत्र को पाकर उत्कण्ठित हो, मन्तव्य के मर्म पर ध्यान दे रहा था । अकस्मात् ऊपर लिखे हुये शब्द कान में पहुँचे, जिनसे एक बार ही मेरा ध्यान भग हो गया ।

आँख उठा कर देखा तो सामने छः वर्ष के बालक हरदयाल को पाया । हरदयाल मेरे भाई का बड़ा लड़का है । इस समय वह अपने छोटे भाई की शिकायत कर रहा है । यह देख कर मुझे बड़ी हँसी आई कि खिलौना फूट गया है, इसलिये बालक हरदयाल ने 'सब मिट्टी हो गया' इत्यादि वाक्यावली से भूमिका बना कर अपने छोटे भाई श्रीधर के नाम अभियोग खड़ा किया है । इस समय हँस कर मैं एक बात भी कहना चाहता था, किन्तु यह सोच कर चुप रह गया, कि ऐसा करने से कहीं बालक की ढीठता को सहारा न मिले और धमकाना इसलिये उचित नहीं समझा कि मनमौजी बालकों के आनन्द में विघ्न करने से क्या मतलब । खैर, दोनों प्रकार की व्यवस्था से मन हटा कर हरदयाल से कहा,— 'श्रीधर बहुत बिगड़ गया है, उसको आज पीछे कोई खिलौना न देंगे ।' हरदयाल अपनी इच्छानुकूल उत्तर पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हँसता हुआ श्रीधर को यह संवाद सुनाने दौड़ता गया ।

घर फिर निस्तब्ध हो गया, किन्तु अन्तःकरण निस्तब्ध नहीं हुआ । 'सब मिट्टी हो गया है,' इस बात ने मन में एक दर्द पैदा कर दिया । अच्छा, मैं बालक से हँस कर क्या कहा चाहता

जा रहा है। वह माल चाहे राख के बराबर कितना ही निकम्मा कितना ही बुरा क्यों न हो, निकृष्ट और अगौरव के स्थल पर तुरन्त उसकी मिट्टी के साथ तुलना होती है। क्या सचमुच मिट्टी इतनी ही निकृष्ट है? और क्या केवल मिट्टी ही निकृष्ट है, हम कुछ निकृष्ट नहीं हैं? भगवती वसुन्धरे! तुम्हारा 'सर्वसहा' नाम यथार्थ है।

अच्छा माँ! यह तो कहो तुम्हारा नाम 'वसुन्धरा' किसने रक्खा? यह नाम तो उस समय का नाम है, मालूम होता है, यह नाम व्यास, वाल्मीकि, पाणिनी, कात्यायन आदि सुसन्तान का दिया हुआ है। केवल यही नाम क्यों? वसुन्धरा, वसुमती, वसुधा, विश्वम्भरा प्रभृति कितने ही आदर के और भी अनेक नाम है। जाने वे तुम्हारे सुपुत्र कितने आदर से, कितनी श्लाघा में और कितनी श्रद्धा से तुम्हें पुकारते थे। क्यों माता ऐसा धन तुम्हारे पास क्या धरा है। जिससे तुम वसुन्धरा, वसुधा के नाम से विख्यात हो? कहो तो, ऐसा सर्वोत्तम रत्न क्या है. जिससे तुम 'वसुमती कहला रही हो? माँ! कुछ तो है, जिससे इस दुर्दिन के घोर अन्धकार में भी तुम्हारे मुख पर उजाला हो रहा है।

जिन सत्पुत्रों ने तुम्हारे ये नाम रक्खे हैं, वे ही तो श्रेष्ठ रत्न हैं। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, कपिल, कणाद, जैमिनि, गौतम, इनकी अपेक्षा और कौन रत्न हैं? माँ? भीष्म, द्रोण, वलि, दधीचि, शिव, हरिश्चन्द्र इनके सदृश रत्न और

कहाँ है ? अनुसूया, अरुन्धती, सीता, सावित्री, सती, दमयन्ती, इनके तुल्य रत्न और कहाँ मिल सकते हैं ? हम लोग अकृतज्ञ हैं, सब भूल गये। अब हमें उनका स्मरण ही नहीं। मानों वे एकबार ही लोप हो गये हैं। यदि कहीं लीन हुये होंगे, तो वे तुम्हारे ही अंग में लीन हुये हैं। जननी ! जरा देखें तो सही, तुम्हारे किस अंग में लीन हुए हैं। माँ ! वह तेज, वह प्रतिभा, कहाँ समा सकता है ? माँ आकाश के चन्द्र-सूर्य क्या मिट्टी में सो रहे हैं ? माँ ! एक बार तो अभागी सन्तान को उनके दर्शन कराओ !

देखें माँ ! उस कुरुक्षेत्र में कितनी कठोर मृत्तिका हो गई ! भीष्म-देव का पतन-क्षेत्र किन पाषाणों में परिणत हो गया ! कपिल, गौतम की शेषशय्या का कितना ऊँचा आकार हो रहा है ! उज्जयनी की विजयिनी भूमि में कैसी मधुमयी धारा चल रही है ! अहा ! अहा ! तुम्हारे अंग में किस प्रकार पादस्पर्श करें ? माँ ! तम्हारे प्रत्येक परमाणु में जो रत्न के कण हैं, वे अमूल्य हैं, क्षय-रहित हैं और अतुल हैं।

जगदम्बा सती के पादस्पर्श से जो मृत्तिका पवित्र हुई है, पति-निन्दा को सुन कर जहाँ सती का शरीर धरती में मिला है, वे क्षेत्र सभी तो वर्तमान हैं। माँ ! फिर पैर कहाँ रक्खा जाय ? वृंदावन-विपिन में अभी भी तो वंशी बज रही है। माँ ! किस सहृदय के, किस सचेतन के कान में वह वंशी नहीं बजती ? अब तक भी यमुना का कृष्ण जल है। माँ ! वियोगिनी,

ब्रजबालाओं की कज्जलाक्त अश्रुधारा का यह माहात्म्य है ! गृहत्यागिनी प्रेमोन्मादिनी राधिका की अनन्त प्रेमधारा ही मानों यमुना के "कल कल" शब्द के व्याज से 'हा ! कृष्ण ! हा कृष्ण' पुकार कर इस धारा को सजीव कर रही है। अभागिनी जनक-तनया की दण्डकारण्य-विदारी हाहाकार-ध्वनि, यह देख, भव-भूति के भवन-पार्श्व-वाहिनी गोदावरी के गद्‌गद्‌ नाद में अच्छी तरह सुन पड़ती है।

और उस अभागिनी तापसकन्या शकुन्तला ने, जो कुछ दिन के लिए राजरानी हुई थी एवं अन्त में उस राजराजेश्वर पति से अपमानित, उपहासित होकर परित्यक्त दशा में पालक पिता के शिष्यों से रूखे और मर्मभेदी शब्दों से धमकाई और त्यागी जाकर, कहीं भी आश्रय न पा, कुररी की तरह विकल कण्ठ से जो तुमसे कहा था, —'भगवति वसुन्धरे ! देहि मे अन्तरम्' वह आज भी कानों में गूँज रहा है। माँ ! वह शब्द अब भी हृदय को व्यथित कर रहा है।

माँ ! तुम्हारे रत्न कहाँ नहीं हैं, किस रेणु में तुम्हारे रत्न नहीं हैं ?

"कोटि-कोटि ऋषि पुरुपतन, कोटि-कोटि नृप सूर।
कोटि-कोटि बुध मधुर कवि, मिले यहाँ की धूर॥"

इसलिये तुम्हारी समस्त मृत्तिका पवित्र है, रज मस्तक पर चढ़ाने योग्य है। तुम्हारे प्रत्येक रेणु में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, ज्योति, कान्ति, शक्ति, स्नेह-भक्ति, प्रेम-प्रीति विराज रही है।

तुम्हारे प्रत्येक रेणु में धैर्य, गाम्भीर्य, महत्व, औदार्य, तितिक्षा, शौर्य देदीप्यमान हो रहा है। तुम्हारी प्रत्येक रज में शान्ति, वैराग्य, विवेक, ब्रह्मचर्य, तपस्या और तीर्थ निवास कर रहे हैं। हम अन्धे हैं, इन सब को देख कर भी नहीं देख सकते। गुरुदेव ने सुना दिया है, सुनकर भी नहीं सुनते। नित्य कृत्य प्रातः कृत्य स्मरण करके भी स्मरण नहीं करते। हाँ! माँ! तुम्हारी पवित्र मृत्तिका मस्तक पर चढ़ा, एक बार भी तो मुख से नहीं कहते, कि—

"अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे।
मृत्तिके हर मे पापं यन्मया दुष्कृतं कृतम्।"

प्रभात के समय क्या कह कर तुम्हारा वन्दन करें? शय्या त्याग कर नीचे पैर रखते हुए प्रणाम कर कहना चाहिये—

"समुद्रमेखले देवि! पर्वतस्तन-मण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥"

देवि! इस समय मैं पैर से तुम्हारा अङ्गस्पर्श करूँगा। तुम्हें स्पर्श न करें, ऐसा उपाय ही क्या है? समुद्रान्त जितना विस्तृत स्थान है, सभी तो तुम्हारा अङ्ग है। इस स्थान को छोड़ कर मैं कहाँ जाऊँ? इस समुद्रान्त भूमि पर जितने प्राणी रहते हैं, सब को ही तुम्हारे शरीर पर पैर रखना होगा। सो, माँ! तू इस अपराध को क्षमा कर। तुम जननी हो, तुम क्षमा न करोगी तो कौन करेगा? यह विशाल पर्वत समूह तुम्हारा स्तनमण्डल है, इस पर्वत समूह से जितनी स्रोतस्विनी नदियाँ

निकल रही हैं, सो तुम्हारे ही स्तन की दुग्धधारा हैं। इन्हीं से सब प्राणी प्राणवान हैं। सो जननि ! विष्णु पत्नि ! सन्तान का यह अपराध क्षमा कर। हम भक्तिप्रवण चित्त से तुम्हें नमस्कार करते हैं।

हाय माँ ! आज वे सब रत्न जीवित नहीं हैं, इसीसे तो तुम बदनाम हो रही हो। आज तुम्हारी सन्तान मिट्टी हो रही है, इसलिये तुम्हारा भी वह वसुन्धरा नाम विलुप्त-प्राय है।
देवी ! अब के मटियल कवियों को तो यही सूझता है कि—

समझ के अपने तन को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है।
मिट्टी करके अपना सरबस, मिट्टी में मिल जाता है॥

इसी समय हरदयाल फिर आन पहुँचा। कहने लगा—

'चाचा ! खूब हुआ, अब उसे कुछ न मिलेगा— यह सुन कर वह रो रहा है।' मैं बोला 'देख हरदयाल ! मैं भी तो रो रहा हूँ।' वस्तुत: इस समय मैं भावविह्वल हो रहा था। दोनों नेत्र जल से छल-छल कर रहे थे। हरदयाल ने मेरी ओर देखकर कहा 'क्यों चाचा ! तुम रोते क्यों हो ? खिलौना फूट गया है, इसीलिये क्या ? खिलौना तो खरीदने पर फिर भी मिल सकता है।' मैंने कहा. 'हाँ, खिलौना खरीदने पर फिर भी मिल जायगा, इसलिए नहीं रोता। जो खरीदने पर फिर नहीं मिलता, उसी के लिये रोता हूँ।'

दूसरी ओर से श्रीधर के रोने की आवाज आई। बालक की सान्त्वना के निमित्त स्वय मुझको उठना पड़ा। मैंने विपयान्तर

में मन लगाया। इस प्रकार मेरी चिन्ता का स्रोत अर्द्धपथ ही में आकर रुक रहा। रुक जाय, समझने वाले इसी से एक प्रकार का सिद्धान्त निकाल सकते हैं। अर्थात् "सब मिट्टी हो गया" इस बात को लोग जिस प्रकार कहते हैं, 'मिट्टी से सब होता है' यह बात भी उसी प्रकार कही जा सकती है। कोई काञ्चन को मिट्टी करता है और कोई मिट्टी को काञ्चन बना डालता है। सब समझ की बलिहारी है। अच्छा जरा बालक को समझा आऊँ।

कवि और कविता

[आचार्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी]

यह बात सिद्ध समझी गई है कविता अभ्यास से नहीं आती। जिनमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान् अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की प्रतिभा स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर सुनने वाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि के भाव पैदा हुये बिना नहीं रहते और जैसा भाव मन में पैदा होता है, कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम

लोगों में पुराने जमाने में भाट, चारण आदि अपनी कविता ही की दौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तररामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है ? वह अच्छी कविता का प्रभाव है।

पुराने जमाने में ग्रीस के ऐथेन्स नगर वाले मेगारा वालों से वैर भाव रखते थे। एक टापू के लिए उनमें कई दफे लड़ाइयाँ हुईं, पर हर बार एथेन्स वालों ही की हार हुई। इस पर सोलन नाम के विद्वान् को बड़ा दुःख हुआ। उसने एक कविता लिखी उसे उसने एक ऊँची जगह पर चढ़कर एथेन्स वालों को सुनाया। कविता का भावार्थ यह था—

'मैं एथेन्स में न पैदा होता तो अच्छा था। मैं किसी और देश में क्यों न पैदा हुआ ? मुझे ऐसे देश में पैदा होना था, जहाँ के निवासी मेरे देश-भाइयों से अधिक वीर, अधिक कठोर-हृदय और उनकी विद्या से बिलकुल बे-खबर हों। मैं अपनी वर्तमान अवस्था की अपेक्षा उस अवस्था में अधिक संतुष्ट होता। यदि मैं किसी ऐसे देश में पैदा होता तो लोग मुझे देखकर यह तो न कहते कि यह आदमी उसी एथेन्स का रहने वाला है जहाँ वाले मेगारा के निवासियों से लड़ाई में हार गये और लड़ाई के मैदान से भाग निकले। प्यारे देश-बन्धुओ, अपने शत्रुओं से जल्द इसका बदला लो। अपने इस कलंक को फौरन धो डालो। अपने लज्जाजनक पराजय के अपयश को दूर कर दो। जब तक अपने

अन्यायी शत्रुओं के हाथ से अपना छिना हुआ देश न छुड़ा लो तब तक एक मिनट भी चैन से न बैठो।" लोगों के दिल पर इस कविता का इतना असर हुआ कि तुरन्त मेगारा वालों पर फिर चढ़ाई कर दी गई और जिस टापू के लिए यह बखेड़ा हुआ था उसे एथेन्स वालों ने लेकर ही चैन ली। इस चढ़ाई में सोलन ही सेनापति बनाया गया था।

रोम, इङ्गलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें संभव कर दिखाई हैं। जहाँ भीरुता का दौरदौरा था वहाँ गदर मचा दिया है अतएव कविता एक असाधारण चीज है परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञान-वृद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का जमाना नहीं आता, तभी तक कविता में परस्पर विरोध है। सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है।

कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश जरूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण के खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हजारों वर्षों से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन बहुत कुछ अब तक हो चुका है, जो नए कवि होते हैं वे भी

उलट-फेर से प्राय: उन्हीं बातों का वर्णन करते हैं। इसी से अब कविता कम हृदय-ग्राहिणी होती है।

संसार में जो बात जैसी देख पड़े, कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिये। उसके लिये किसी तरह की रोक या पाबन्दी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव आप ही आप पैदा होते हैं उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रगट करता है तभी उसका पूरा पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि वह बेरोक टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे, परन्तु परतन्त्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से, यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस जरूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है।

सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की उक्तियों का प्रभाव क्षीण हुये बिना नहीं रहता। कवि के लिये कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब

वन, पर्वत, फूल, पत्ती गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

खुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है। जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको खुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको खुशामद करनी पड़ती है। वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाश-कुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार जरूर माना है, परन्तु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार हैं! किसी कवि की बेसिर-पैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनन्द प्राप्त हो सकता है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता।

कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने, अथवा किसी एक ही विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इस तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृङ्गारी) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न हो। किसी दीवान को उठाइए,

आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे आरम्भ से अन्त तक रंगा हुआ पाइयेगा।

इश्क भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है, पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वालों का सारा रोना, कराहना, ठंडी साँसें लेना, जीते ही अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा-सा भी अंश सच है? फिर क्यों इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है? अनेक कवि हो चुके हैं जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या क्या लिख डाला है। इस दशा में नये कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छन्द, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक इस पर भी लोग पुरानी ही लकीर को बराबर पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैये, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नखशिख, नायिका भेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं। अपनी व्यर्थ की बनावटी बातों से देवी-देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं सकुचाते। फल यह हुआ है कि असलियत काफूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा के परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रन्थकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोल-चाल तक में कविता के दोष आ

जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोल-चाल के सम्बन्ध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोषकार अपने कोषों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोल-चाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती ही नहीं, उल्टा अवनति होती जाती है।

कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नये तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं कि यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं कि यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो "छंद प्रभाकर" में दिये गये लक्षणों से च्युत है; अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आये हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव-काँव।

इसी तरह की नुकता-चीनी से तङ्ग आकर अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को सम्बोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है—"कविते! यह बेकदरी का जमाना है; लोगों के चित्त का तेरी तरफ खिंचना तो दूर रहा, उल्टा सब कहीं तेरी निन्दा होती है। तेरी बदौलत सभा-समाजों

और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है, पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर मैं घमण्ड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनन्द से रह सकते हैं, पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद जरूर चूर्ण हो जाता है।" गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि-प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से जरा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज समझ रक्खा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वह भेद है जो 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली हुई शब्द-स्थापना-मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबन्दी और अनुप्रास कविता के लिये अपरिहार्य नहीं और संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबन्दी का है। देखो, संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो।

अरब में सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गये हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबन्दी का बिलकुल ख्याल नहीं था। अङ्गरेजी

कवि का काम है कि वह प्रकृति-विकास को खूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर-छोर नहीं, वह अनन्त है। प्रकृति अद्भुत-अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीव-अजीव कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते पर कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है, उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षाएँ भी ग्रहण करता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृष्टि और प्रकृति के कौशल के देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है।

प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की आलोचना का भी अभ्यास करना चाहिये। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख दुःख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक-सी नहीं रहती। अनेक प्रकार की विकार तरंगें उसके मन में उठा करती हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान से अनुभव करना सब का काम नहीं। केवल कवि ही इनका अनुभव करने में समर्थ होता है।

जिसे कभी पुत्रशोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्रशोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश-सा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि

सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से द्रवीभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन में ढूँढ़-ढूँढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिये जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का एक चित्र सा खींच दें। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो, यदि वह तदनुकूल शब्दों में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि जाता नहीं रहता, तो कम जरूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन-चुन कर ऐसे ऐसे शब्द रखने चाहिये, और इस क्रम से रखने चाहिये, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय, उसमें कसर न पड़े।

मनोभाव शब्दों ही के द्वारा व्यक्त होता है। अतएव सयुक्तिक शब्द-स्थापना के बिना कविता तादृश हृदय-हारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिये कि जिसके पास काफी शब्द-समूह नहीं, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिये। जो सुकवि हैं, उन्हें एक एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है, वे खूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनके

भाव को प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है, उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अंगरेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुणों का वर्णन किया है। उसकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो, और असलियत से गिरी हुइ न हो। सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ शब्द-समूह ही सादा हो किन्तु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे या देर से समझ आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर न हो, कि उसे समझने में गहरे विचार की जरूरत हो। कविता पढ़ने या सुनने वाले को ऐसी साफ सुथरी सड़क मिलनी चाहिये जिस पर कंकड़, पत्थर, टीले, खन्दक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो। वह खूब साफ और हमवार हो, जिससे उस पर चलने वाला आराम से चला जाय। जिस तरह सड़क जरा भी ऊँची-नीची होने से बाइसिकल (पैरगाड़ी) के सवार को धँचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी भी नाहमवार हुई तो पढ़ने वाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कविता-रूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी-नाले बहते हों; दोनों तरफ फलों-फूलों से लदे हुये पेड़ हों; जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृतिक दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव

और अटपटे शब्द प्रयोग करने वाले कवियों की कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अन्धकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र छूछी शब्द-झङ्कार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिये कि वे एक दम ही बोलना बन्द कर दें।

भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिये। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिये, जिनसे सब लोग परिचित हों। मतलब यह कि भाषा बोल चाल की हो। क्योंकि कविता की भाषा बोल-चाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोल-चाल से मतलब उस भाषा से है, जिसे खास और आम सब बोलते, विद्वान् और अविद्वान् दोनों जिसे काम में लाते हैं इसी तरह कवि को मुहाविरे का भी ख्याल रखना चाहिये। जो मुहाविरे सर्व-सम्मत हैं, उन्हीं का प्रयोग करना चाहिये। हिन्दी और उर्दू में कुछ शब्द अन्य भाषाओं के भी आ गये हैं। वह यदि बोल चाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता; उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिये। कोई कोई ऐसे शब्दों को उनके मूल-रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह भूल है। जब अन्य भाषा का कोई शब्द किसी और भाषा में आ जाता है तो वह उसी भाषा का हो जाता है। अतएव उसे उसको मूल भाषा के रूप में लिखते

जाना भाषा-विज्ञान के नियमों के खिलाफ है। खुद 'मुहावरह' शब्द ही को देखिए। जब उसे अनेक लोग हिन्दी में 'मुहावरा' लिखने और बोलने लगे तब उसका असली रूप जाता रहा। वह हिन्दी का शब्द हो गया। यदि अन्य भाषाओं के बहु-प्रयुक्त शब्दों का मूल रूप ही शुद्ध माना जायगा तो घर, घड़ा, हाथ पाँव, नाक, कान, गश, मुसलमान, कुरान, मैगजीन, एडमिरल, लालटेन आदि शब्दों को भी उनके पूर्व रूप म ले जाना पड़ेगा। एशियाटिक सोसाइटी के जनवरी १९०७ के जर्नल में फ्रेंच और अँगरेजी आदि यूरोपियन भाषाओं के १३८ शब्द ऐसे दिए गए हैं जो फारस के फारसी अखबारों में प्रयुक्त हैं। इनमें से कितने ही शब्दों का रूपान्तर हो गया है। अब यदि इस तरह के शब्द अपने मूल रूप में लिखे जायँगे तो भाषा में बेतरह गड़बड़ पैदा हो जायगी।

असलियत से मतलब यह नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाय और हर बात में सचाई का ख्याल रक्खा जाय। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उनमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे अर्थात् यदि उसकी

भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से खाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उलटा ही क्यों न समझते हों। परन्तु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिये। क्योंकि स्वाभाविकता अर्थात् 'नेचुरल' (natural) उक्तियाँ ही सुनने वाले के हृदय पर असर कर सकती हैं; अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिये हुये कवि स्वतन्त्रापूर्वक जो चाहे कह सकता है; असल बात को एक नए साँचे में ढालकर कुछ देर तक इधर-उधर भी उड़ान भर सकता है; पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्राय: निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों ही के सम्बन्ध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिये जो दुनियाँ में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती हैं अथवा जिन बातों का होना सम्भव है, वही स्वाभाविक है। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। हम इन बातों का उदाहरण देकर अधिक स्पष्ट कर देते, पर लेख बढ़ जाने के डर से वैसा नहीं करते।

जोश से यह मतलब है कि कवि जो कहे इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गये हैं। उनसे बनावट न जाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कही हैं; किन्तु यह मालूम हो कि उसके

हृद्गत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट करने के लिये उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्य वस्तु को देख कर किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से वह उस पर कविता करने के लिये विवश-सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से सजीव ही नहीं, निर्जीव चीजों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीजों में बोलने की शक्ति होती तो खुद वे भी इससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह मतलब नहीं कि कविता के शब्द खूब जोरदार और जोशीले हों। सम्भव है, शब्द जोरदार न हों, पर जोश उनमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुनने वाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परन्तु ऐसे शब्दों का प्रयोग करना ऐसे-वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मोटी छुरी से तेज तलवार का काम लेना चाहते हैं, वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है परन्तु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश ही रहता है और असलियत नहीं। परन्तु बिना असलियत के जोश होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिये।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वे ही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से साहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे ही कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है।

वीरगाथा काल का प्रबन्ध-काव्य

[डा० श्यामसुन्दर दास]

हिन्दी में वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबन्ध काव्यों के रूप में और कुछ वीर-गीतों के रूप में। प्रबन्ध के रूप में वीर कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है। यूनान के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्यों की रचना का मुख्य आधार युद्ध ही माना है और उनकी वीर-रसात्मकता स्वीकार की है। वहाँ के आदि कवि होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य की आधारभूत घटना ट्राय का युद्ध ही है। भारतवर्ष के रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में युद्ध का ही साम्य है, अन्य घटनाओं में बड़ा अन्तर है। वीर गीतों के रूप में भी वीर पुरुषों की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। हिन्दी की वीर गाथाओं में प्रबन्ध रूप से सब से प्राचीन ग्रन्थ जिसका उल्लेख मिलता है, दलपति-विजय का खुमान रासो है। ऐसा कहा जाता है कि उसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। इस समय इस पुस्तक की जो प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें महाराणा प्रतापसिंह तक

का वर्णन है। संभव है कि यह प्राचीन पुस्तक का परिवर्धित संस्करण हो अथवा उसमें पीछे के राजाओं का वर्णन परिशिष्ट-रूप से जोड़ा गया हो। इस पुस्तक के सम्बन्ध में अभी बहुत कुछ जाँच-पड़ताल की आवश्यकता है।

वीर-गाथा सम्बन्धी प्रबन्ध-काव्यों में दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक चन्द बरदाई कृत 'पृथ्वीराज रासो' है। इस विशालकाय ग्रन्थ को हम महाकाव्या की उस श्रेणी में नहीं गिन सकते जिसमें यूनान के प्रसिद्ध महाकाव्य ईलियड आदि तथा भारतवर्ष के रामायण, महाभारत आदि की गणना होती है। ये महाकाव्य तो एक समस्त देश और एक समस्त जाति की स्थायी संपत्ति हैं। इनमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का सार अन्तर्निहित है। यह सत्य है कि पृथ्वीराज रासो भी एक विशाल काव्य-ग्रन्थ है और यह भी सत्य है कि महाकाव्यों की ही भाँति इसमें भी युद्ध की ही प्रधानता है, पर इतने ही साम्य के आधार पर उसे महाकाव्य कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता। महाकाव्य में जिस व्यापक तथा गंभीर रीति से जातीय चित्त-वृत्तियों को स्थायित्व मिलता है, पृथ्वीराज रासो में उनका सर्वथा अभाव है। महाकाव्य में यद्यपि एक ही प्रधान युद्ध होता है, तथापि उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम भी बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। पृथ्वीराज रासो में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उसमें उल्लेख है। सबसे प्रधान बात यह है कि पृथ्वीराज रासो

छन्द बिखरे पड़े हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन छन्दों का संग्रह संकलन या सम्पादन सम्भवतः सम्वत् १६३६ और १६४२ के बीच में हुआ था। उसी समय बहुत कुछ कथानक बढ़ा-घटाकर इन छन्दों को ग्रन्थ रूप दिया गया; और पीछे तो न जाने कितना और अधिक जोड़-तोड़कर उसका वर्त्तमान रूप प्रस्तुत किया गया।

जो कुछ हो, इस बृहद् ग्रन्थ में यद्यपि विस्तार के साथ पृथ्वीराज चौहान का वीर चरित ही अंकित किया गया है पर अनेक प्रासंगिक विवरणों के रूप में क्षत्रियों के चार कुलों की उत्पत्ति और अनेक अलग राज्य-स्थापन आदि की भी कल्पना की गई है। पृथ्वीराज की पूर्व परम्परा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रन्थ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासगिक रीति से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन करता है। पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं में अनंगपाल द्वारा गोद लिए जाने पर उसका दिल्ली और अजमेर के राजसिंहासनों का अधिकारी होकर, कन्नौज के राठौर राजा जयचन्द के विद्वेष होने के कारण उसके राजसूय यज्ञ में न सम्मिलित होकर छिपे-छिपे उसकी कन्या को हर लाना, जयचन्द तथा अन्य क्षत्रिय नृपतियों से अनेक बार युद्ध करना, क्षीण शक्ति हो जाने पर भी अफ़गानिस्तान के गोरे प्रदेश के अधिपति शहाबुद्दीन के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करना, कई बार उसे कैद करके छोड़ देना, आदि-आदि अनेक प्रसंगों का जिनमें से कुछ कवि-कल्पित हैं और कुछ ऐतिहासिक तथ्यों पर

अवलम्बित हैं बड़ा ही मार्मिक तथा काव्यगुण-सम्पन्न वर्णन इस ग्रन्थ में पाया जाता है।

पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे महत्वपूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रन्थ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रन्थों में नहीं मिलती। छन्दों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन-गाथा होने के कारण इसमें वीरगीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि 'रामचरित मानस' अथवा 'पद्मावत' की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परन्तु इस ग्रन्थ में वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है, और कहीं-कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी गणना हिन्दी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रन्थ अब साधारण जनता के लिये दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराजरासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

वीर गाथा काल के प्रबन्ध-काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार का जिसने जयचन्द प्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयकजस-

चन्द्रिका, सारङ्गधर का जिसने हम्मीरकाव्य और नल्लसिंह का जिसने विजयपालरासो लिखा, उल्लेख मिलता है, जिससे यह प्रकाशित होता है कि इस प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी। पर राजपुताने में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की खोज न होने तथा अनेक ग्रंथों के उनके मालिकों के मोह, अविवेक अथवा अदूरदर्शिता के कारण अँधेरी कोठरियों में बन्द पड़े रहने के कारण इस परम्परा का पूरा-पूरा इतिहास उपस्थित करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।

साहित्य का मूल

[श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी]

साहित्य का स्वरूप सदा परिवर्तित होता रहता है। भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न आदर्शों की सृष्टि होती है। मनुष्य-जीवन में हम जो वैचित्र्य और जटिलता देखते हैं, वही साहित्य में पाते हैं। साहित्य की गति सदैव उन्नति ही के पथ पर नहीं अग्रसर होती। मानव-समाज के साथ-साथ उसका भी उत्थान-पतन होता रहता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि जब कोई जाति अवनत दशा में है, तब उसका साहित्य भी अनुन्नत हो। प्राय: देखा भी जाता है कि जाति के अध:पतित होने पर उसमें श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि होती है, और जब जाति गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच जाती है, तब उसका साहित्य श्रीहत हो जाता है। किसी-किसी का शायद यह ख्याल है कि जब देश में शाँति विराजमान होती है, तभी साहित्य का निर्माण होता है। पर साहित्य के इतिहास में हम देखा करते हैं कि युद्ध-काल में भी जब एक जाति वैभव की आकांक्षा से उद्दीप्त होकर नर-शोणित के लिये लोलुप हो जाती है, तब उसमें दैवी-शक्ति-संपन्न कवि जन्म

ग्रहण करता है। अब प्रश्न यह होता है कि साहित्य के उद्भव का कारण क्या है? क्या कवि की उत्पत्ति आकाश में विद्युत् की भाँति एक आकस्मिक घटना है? क्या देश और समाज के प्रतिकूल साहित्य की सृष्टि होती है? क्या कवि देश और काल की उपेक्षा नहीं करता? अथवा, क्या देश और काल के अनुसार ही साहित्य की रचना होती है?

इसमें संदेह नहीं की साहित्य में वैचित्र्य है। परन्तु वैचित्र्य में भी साम्य है। नदी का स्रोत चाहे पर्वत पर बहे, चाहे समतल भूमि पर, उसकी धारा विच्छिन्न नहीं होती। साहित्य का स्रोत भी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अविच्छिन्न ही बना रहता है। उदाहरण के लिये हम हिंदी-साहित्य ही का विचार-धारा पर एक बार ध्यान देते हैं। महाकवि चंद से लेकर आज तक जितने कवि हुए हैं, सभी ने एक ही आदर्श का अनुसरण नहीं किया। विचार-वैचित्र्य के अनुसार हिंदी काव्यों के चार स्थूल विभाग किये जाते हैं। हिंदी-साहित्य के आदि काल में वीर-पूजा का भाव प्रधान था। उसके बाद अध्यात्मवाद की प्रधानता हुई। फिर भक्त कवि उत्पन्न हुए। तदनंतर शृङ्गार रस की उत्कृष्ट कविताएँ निर्मित्त हुईं। यह सब होने पर भी हिंदी-साहित्य में हम एक विचार-धारा देख सकते हैं। बिहारी, सूर नहीं हो सकते, और न सूर चंद हो सकते हैं। परन्तु जिस भावना के उद्रेक से चंद कवि ने अपने महाकाव्य की रचना की, वह सूर और बिहारी की रचनाओं में विद्यमान है। वह है

हिंदू-जाति का अधःपतन। महाकवि चंद ने अपनी आँखों से हिंदू-साम्राज्य का विनाश देखा। उन्होंने उसकी गौरव-रक्षा के लिये अपने काव्य का विशाल मंदिर खड़ा कर दिया। कबीर ने अपनी वचनावली में भारत की दशा का ही चित्र अंकित किया है। सूरदास के पदों में भी वही हाहाकार है। विहारी के विलास-वर्णन में भी विषाद है। वसंत-ऋतु के अतीत गौरव का स्मरण कर उसी के पुनरुद्धार की आशा में उनका मन अटका रहा। भूषण के वीर-रसात्मक काव्यों में भी हम शौर्य के स्थान में शस्त्रों की व्यर्थ झनकार ही सुनते हैं। पद्माकर ने निर्वाणोन्मुख दीप-शिखा की भाँति हिम्मत वहादुर की गुणावली का गान किया है। कहाँ तक कहें, हिन्दी के आधुनिक कवियों की रचनाओं में भी हम दुर्भिक्ष-पीड़ित भारत का चीत्कार ही सुनते हैं। दासत्व-बंधन में जकड़े और विजेताओं द्वारा पद-दलित हिंदू-साहित्य में अन्य किसी भाव की प्रधानता हो भी कैसे सकती है? यदि हमारी विवेचना ठीक है, तो हम कह सकते हैं कि साहित्य का मुख्य विचार-स्रोत समाज का अनुगमन कर सकता है; परन्तु समाज की हीनता पर साहित्य की हीनता नहीं अवलंवित है। अपनी हीनावस्था में भी हिंदू-जाति ने ऐसे कवि उत्पन्न किए हैं, जो किसी समृद्धिशाली जाति का गौरव बढ़ा सकते हैं। सूर, तुलसी और विहारी ने शक्तिहीन हिंदू-जाति में ही जन्म ग्रहण किया था। परन्तु उनकी रचनाएँ सदैव आदरणीय रहेंगी। सच तो यह है कि जब कोई जाति वैभव-संपन्न हो

जाता है, तब उसके साहित्य का ह्रास होने लगता है। जान पड़ता है, पार्थिव वैभव से कविता-कला का कम संबंध है। जब तक देश उन्नतिशील है, तब तक उसमें साहित्य की उन्नति होती रहती है। जब वह अवनतिशील है, तब साहित्य की गति बदल जाती है। परन्तु उसका वेग कम नहीं होता। वैभव की उन्नति से जब किसी जाति में स्थिरता आ जाती है, तभी साहित्य की अवनति होती है। यह नियम पृथ्वी की सभी जातियों के संबन्ध में, सभी कालों में, सत्य है। अब प्रश्न यह है कि ऐसा होता क्यों है? नीचे हम इसी प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

कितने ही विद्वानों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य-विकास से मुग्ध हो जाता है, तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। सौंदर्य-लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है, और कला का विकास। परन्तु इस सिद्धांत के विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब तो उसकी सौंदर्यानुभूति और सौंदर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उलटे उसकी वृद्धि ही होती है। तब, ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिए। परन्तु फल विपरीत होता है। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है, और कला श्रीहत। जर्मनी के जीवतत्त्व-विशारदों का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है वह प्राकृतिक सौंदर्य से

मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उसी विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह विस्मय क्यों होता है? शास्त्रों के अनुसार द्वैतानुभूति ही विस्मय के उद्रेक का कारण है। मैं हूँ, और मुझसे भिन्न विश्व है। मैं इस विश्व के विकास और विलास को देखकर मुग्ध होता हूँ और प्रतिक्षण उसकी नवीनता का अनुभव कर विस्मय से अभिभूत होता हूँ। नवीनता की अनुभूति से विस्मय प्रकट होता है।

जीव-तत्व विशारद विरचाउ (Birchow) ने मनुष्य के विस्मयोद्रेक का यही कारण बतलाया है। उनका कथन है कि बर्बर जातियों में न तो स्वतः सिद्धि है, न परंपरागत धारणाराशि, और न अन्धविश्वास। उन जातियों के लोग जो कुछ देखते हैं, उसे पहले ही देखते हैं—प्रकृति उनके लिए नवीन ही रहती है। उसी नवीनता से वे मुग्ध होते हैं, उसीसे उन्हें विस्मय होता है, उसी विस्मय से भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति होती है, और यही भाव साहित्य का मूल है। यह भाव दो रूपों में व्यक्त होता है, अथवा यह कहना चाहिए कि इस भाव में दो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, पहली भावना जिगीषा अर्थात् यह सोचना है कि हम प्राकृतिक शक्तियों को पराभूत करके उन्हें स्वायत्त कर लेंगे और तब इस विस्मयागार पर हमारा अधिकार हो जायगा। दूसरी भावना तन्मयता अर्थात् यह सोचना है कि हम इस रूप-सागर में निमग्न होकर नित्य नवीनता को प्राप्त कर लेंगे।

पहली भावना से विज्ञान की उत्पत्ति होती है। दूसरी भावना से धर्म और साधना के भाव प्रकट होते हैं, जो काव्य और साहित्य के मूल हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार और भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघर्षण से वे भावनाएँ भिन्न-भिन्नरूप धारण करती हैं। उन्हीं से साहित्य का स्वरूप सदैव परिवर्तित होता रहता है।

उक्त विवेचना से यह मालूम होता है कि साहित्य के दो प्रधान भेद हैं--एक विज्ञान, दूसरा कला। इसके मूल-गत भाव भिन्न-भिन्न हैं। इनका विकास भी एक ही रीति से नहीं होता। विज्ञान पर वाह्य जगत् का प्रभाव खूब पड़ता है और कला पर अंतजगत् का। धार्मिक आंदोलन से कला का स्वरूप अवश्य परिवर्तित होता है। उसी प्रकार पार्थिव समृद्धि की आकांक्षा से विज्ञान की गति तीव्रतर होती है। सभी देशों के साहित्य में यह बात स्पष्ट देखी जाती है। बौद्ध-युग में जब कवित्व-कला का अभाव हुआ, तब विज्ञान की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। आधुनिक युग में भी विज्ञान की उन्नति से कविता का अवश्य ह्रास हुआ है। साहित्य के विकास में हमें एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना चाहिये। वह यह कि कला में व्यक्तित्व की प्रधानता रहती है, और विज्ञान में व्यक्तित्व की कोई विशेषता नही लक्षित होती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से अनेक बातें ग्रहण की हैं। न्यूटन ने भी पूर्वार्जित ज्ञान के आधार पर अपना सिद्धांत निर्मित किया है। न्यूटन के आविष्कार से

विज्ञान को बड़ा लाभ पहुँचा है। संसार न्यूटन का सदा कृतज्ञ रहेगा। परन्तु यह सभी स्वीकार करेंगे कि विज्ञान अब पहिले से अधिक समुन्नत हो गया है और न्यूटन के आविष्कार से भी महत्वपूर्ण आविष्कार हो गये हैं। विज्ञान के आदि काल के लिए न्यूटन का आविष्कार कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, अब ज्ञान की उन्नति से वह स्वयं उतना महत्व नहीं रखता। पर शेक्सपियर की रचना के विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। शेक्सपियर ने अपने पूर्ववर्ती कवियों से जो बातें ग्रहण कीं, उनको उसने बिल्कुल अपना बना लिया और अपनी प्रतिभा के बल से उसने जो साहित्य तैयार किया, उसका महत्व कभी घटने का नहीं। संसार में शेक्सपियर से उत्तम नाटककार भले ही पैदा हों, पर उनकी कृति से शेक्सपियर के नाटकों का महत्व नहीं घटेगा। कहने का मतलब यह कि विज्ञान की जैसे उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है, ठीक उसी तरह साहित्य की उन्नति नहीं होती। कवि चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, उसकी रचना पर उसी का पूर्ण अधिकार रहेगा। जलाशय के समान वह एक स्थान पर ज्यों-की त्यों बनी रहती है। यदि वह क्षुद्र सर है, तो थोड़े ही दिन में सूख जायगा। यदि उसमें अनन्त जल-राशि है, तो चिरकाल तक बना रहेगा। परन्तु विज्ञान गिरि-निर्झर की तरह आगे ही बढ़ता जाता है, झरने एक दूसरे से मिल जाते हैं, इसी तरह कई झरनों के मिलने से एक नदी बन जाती है, और वह नदी ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों बड़ी ही होती

जाती है। विज्ञान का स्रोत वैज्ञानिकों की कृति से बढ़ता ही जाता है, और अब उसने एक विशाल रूप धारण कर लिया है।

विज्ञान की उन्नति से साधारण नियमों की वृद्धि होती है। प्रकृति की रहस्यमयी मूर्ति वैसे ही नियमों से स्पष्ट होती है। सच पूछो, तो विज्ञान साधारण नियमों का समूह मात्र है। परन्तु कला कोई नियम नहीं ढूढ़ निकालती। कला जीवन की प्रकाशिका कही गई है। अतएव जीवन वैचित्र्य के कारण, कला का वैचित्र्य सदैव रहेगा। वैचित्र्य के अभाव से कला का ह्रास होता है। मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी और जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा, तब कला में भी सरलता आने लगेगी। सभ्यता के आदि-काल में मानव-जीवन बहुत सरल होता है। अतएव तत्कालीन साहित्य और कला में सरलता रहती है। तब न तो शब्दों का आडम्बर रहता है, और न अलंकारों का चमत्कार। उस समय कला का क्षेत्र भी परिमित रहता है। उसमें रूप रहेगा किन्तु रूप-वैचित्र्य नहीं। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता जाता है; साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। जीवन की विशालता पर कला का सौन्दर्य अवलंबित है। जिस जाति का जीवन जितना विशाल होगा, उसकी कला भी उतनी ही अधिक होगी, और उसका आदर्श भी उतना ही विशाल होगा। एक उदाहरण से हम इस वाद को स्पष्ट करना चाहते हैं। प्राचीन काल की असभ्य जातियों की बनाई हुई चित्रावली मिली

है। उसमें और सभ्य ग्रीक जाति की शिल्प-कला में क्या भेद है? ग्रीक-जाति के समान उन असभ्य-जातियों को भी जीवन के विषय में विस्मय होता था। रूप के पर्यवेक्षण में उन्हें भी आनन्द होता था, और उन भावों को बाह्य रूप देने के लिए वे चंचल थीं। उनके चित्रों में ये बातें हैं। परन्तु जीवन की क्षुद्रता में उन्होंने सिर्फ रूप देखा, रूप-वैचित्र्य नहीं। रूप-वैचित्र्य भी यदि उन्होंने देखा, तो उसमें सुषमा और सुसंगति (Harmony) नहीं देख सके। उसको ग्रीक लोगों ने देखा। ग्रीक लोगों की कला में अधिक सौन्दर्य है; क्योंकि उनके जीवन का क्षेत्र भी अधिक विशाल था। यदि ग्रीक-जाति का जीवन और विशाल होता, तो उसकी कला की भी अधिक उन्नति होती। परन्तु ग्रीक-जाति सिर्फ रूप-रस-ग्राह्य जीवन में ही मुग्ध थी। आध्यात्मिक जीवन की ओर उसका लक्ष्य नहीं था। इस ओर हिन्दू और चीनी जाति का ध्यान था। इसी लिए इन लोगों की कला का आदर्श अधिक ऊँचा था।

साहित्य के मूल में जो तन्मयता का भाव है, उसका एक-मात्र कारण यही है कि मनुष्य अपने जीवन में संपूर्णता को उपलब्ध करना चाहता है—वह उसी में तन्मय होना चाहता है। परन्तु वह संपूर्णता है कहाँ? बाह्य प्रकृति में तो है नहीं। यदि बाह्य जगत् में ही मनुष्य संपूर्णता को पा लेता, तो साहित्य और कला की सृष्टि ही न होती। वह संपूर्णता कवि के कल्पना-लोक में और शिल्पी के मनोराज्य में है। वहाँ जीवन का पूर्ण रूप प्रकाशित

के लिये स्वतन्त्रता आवश्यक है। जो जाति दासत्व की शृङ्खला से बँधी होती है, उसकी चित्त-वृत्ति का स्वातन्त्र्य भी नष्ट हो जाता है। उसकी मानसिक शक्ति कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है। तब वह प्रकृति के ऊपर भी अपना कर्तृत्व प्रकट कर देना चाहता है। तभी उसकी इच्छा होती है कि प्राकृतिक सौंदर्य पर भाव को प्रतिष्ठित कर उसे किस प्रकार अधिक सुन्दर करें। यही नहीं, वह सौंदर्य-विकास के साथ अनंत और अज्ञेय को भी अपनी कल्पना के द्वारा अधिगम्य करना चाहता है।

ब्राउन साहब ने यही कला के साथ धर्म का भी सम्बन्ध बतलाया है। आपका कथन है कि प्रकृति के सौन्दर्य के भीतर जो अनन्त रूप विद्यमान है, उसे धर्म ही, विश्वास और कल्पना के द्वारा, मनुष्य के लिये अनुभूति-गम्य कर देता है। प्रातःकाल सूर्योदय की शोभा देखकर मनुष्य मुग्ध हो सकता है; परन्तु उसका यह मोह क्षणिक है। जब तक सूर्य की लालिमा है, तभी तक वह मोह है। परन्तु धर्म उसको बदलता है कि इस प्रातःकालीन लालिमा में एक महाशक्ति विराजमान है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्"। तब वह सौंदर्य-भावना स्थायी हो जाती है। यदि समाज में धर्म का और धर्म में सौंदर्य का भाव है, तो कला कि उन्नति अवश्य होगी।

भारतवर्ष में जब तक भक्तिगत स्वातंत्र्य था, धर्म की भावना प्रबल थी, तब तक कला की उन्नति हुई। स्वतंत्रता के लुप्त हो जाने

पर भी भारतवासियों ने अपने धर्म की भावना से कला की रक्षा की। परंतु अब स्वाधीनता और धार्मिक भावना खोकर वे अपनी कला भी खो बैठे।

मनुष्य ने संसार से अपना जो संबंध स्थापित किया है, वह उसके धार्मिक विश्वासों में प्रकट होता है। ज्यों-ज्यों उसके धार्मिक विश्वास परिवर्तित होते जाते हैं, त्यों-त्यों संसार से उसका संबंध भी बदलता जाता है। धार्मिक विश्वास में शिथिलता आने से उसका सांसारिक जीवन भी शिथिल हो जाता है, और उसकी यह शिथिलता उसके सभी कृत्यों में दिखाई देती है। साहित्य में मनुष्यों के धार्मिक परिवर्तन का प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है, यही नहीं, उससे साहित्य का स्वरूप भी बदल जाता है। धर्म साहित्य का अच्छेद्य संबंध है। डाक्टर वीचर नाम के एक विद्वान् ने एक बार कहा था कि प्रत्येक भाषा और साहित्य का एक धर्म होता है। ईसाई-धर्मावलंबी योरप के सभी सभ्य देशों की भाषा का धर्म ईसाई मत का ही अवलंबन करता है। वहाँ ईसाई धर्म ही प्रत्येक देश और जाति की विशेषता को ग्रहण कर साहित्य में विद्यमान है। वीचर साहब के इस मत का समर्थन कितने ही विद्वानों ने किया है। अब यह सर्व-सम्मत सिद्धांत हो गया है कि जिस जाति का जो धर्म है, उस जाति की भाषा, सभ्यता और साहित्य उसी धर्म के अनुकूल होगा। इतना ही नहीं, भाषा के प्रत्येक शब्द, रचना-शैली, अलंकार के समावेश और रस के विकास में भी उसी धर्म की ध्वनि श्रुति-गोचर होगी।

साहित्य से धर्म पृथक् नहीं किया जा सकता। चाहे जिस काल का साहित्य हो, उसमें तत्कालीन धार्मिक अवस्था का ही चित्र अंकित होगा।

हिंदू-साहित्य में धर्म के तीन स्वरूप लक्षित होते हैं—प्राकृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक। हिंदू-साहित्य के आदि-काल में धर्म की प्राकृतिक अवस्था विद्यमान थी, मध्य-युग में नैतिक अवस्था का आविर्भाव हुआ और जब भारतीय समाज में धार्मिक उत्क्रांति हुई, तब, साहित्य में नवोत्थान-काल उपस्थित होने पर, आध्यात्मिक भावों की प्रधानता हुई।

धर्म की पहली अवस्था में प्रकृति की ओर हमारा लक्ष्य रहता है। तब हम वाह्य जगत् में ही रहते हैं। उस समय हमारी साधना का केन्द्र प्रकृति में ही स्थापित होता है। उस अवस्था में भी तन्मयता की ओर भारतीय कवियों का लक्ष्य रहता है। सभी देशों के प्राचीन साहित्य में साहित्य में प्रकृति की उपासना है। प्राचीन ग्रीक-साहित्य में प्राकृतिक शक्तियों को दिव्य स्वरूप देकर उनका यशोगान किया गया है, परन्तु उसमें हिन्दू-जाति की तन्मयता नहीं है। प्रकृति भारत के लिये आत्मीय थी। पशु-पक्षी, फूल-पत्ती और नदी-पहाड़ सभी से उनकी घनिष्ठता थी। हिन्दू-साधक विश्व-देवता के साथ एक होकर रहना चाहते थे। विश्व के सभी पदार्थों में भगवान् की विभूति का दर्शन कर हिंदू-जाति ने गंगा और हिमाचल की पूजा की और मनुष्य को देवता के रूप में तथा देवता को मनुष्य के रूप में देखा। ग्रीक-साहित्य

में एस्काइलीस, सफोक्लीस, ईरोपिडिस, अरिस्टोफीनिस आदि की रचनाओं में भावुकता है पर वह इस कोटि की नहीं। उनकी दौड़ देव-पर्यंत थी। वे एक अलक्षित शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते थे। परन्तु उनका लक्ष्य एक मात्र इहलोक था। हिन्दुओं की दृष्टि में उनकी उपासना सात्त्विक नहीं, राजसिक थी। हिन्दुओं के मतानुसार कला के तीन आदर्श हो सकते हैं। जिससे केवल प्राण-रक्षा हो, वह तामसिक है। जब कला अपने ऐश्वर्य और शक्ति के द्वारा समस्त समाज पर प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, और केवल सौन्दर्य की सृष्टि की ओर उसका लक्ष्य रहता है, तब वह राजसिक होती है। सात्विक कला में अनन्त के लिए शान्त की व्याकुलता रहती है। तब मनुष्य प्रकृति को जड़ नहीं समझता। वह उसको अपने जीवन में ग्रहण करना चाहता है उसको रस-रूप में परिणत करना चाहता है। प्रकृति के सात्विक उपासकों के लिए प्रकृति दयामयी और प्रेममयी रहती है। उससे मनुष्य का सम्बन्ध केवल ज्ञान द्वारा स्थापित नहीं होता। यथार्थ सम्बन्ध-सूत्र प्रेम होता है। ग्रीक-साहित्य में जिन देवतों की सृष्टि की गई है, वे मानव-जाति से सर्वथा पृथक् थे। परन्तु हिन्दू-देवता मानवजाति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते थे। वैदिक ऋषियों ने विश्व के प्रति जैसी प्रीति प्रकट की है, उससे यही मालूम होता है कि स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी ही उनके लिए अधिक सत्य थी। एक स्थान पर पृथ्वी को संबोधन कर उन्होंने कहा है—'हे पृथ्वी तेरे पहाड़, तेरे तुषारावृत पर्वत, तेरे अरण्य हमारे लिए

सुन्दर हों।' दूसरे स्थान में उन्होंने कहा है "भूमि हमारी माता है, और हम पृथ्वी के पुत्र।" (फिर कहा है "हे माता भूमि, तेरा ग्रीष्म, तेरी वर्षा, तेरा शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त, तेरा सुनियमित ऋतु-संवत्सर, तेरे दिन और रात्रि मेरे अनुकूल-नी दुग्ध-धारा के समान प्रवाहित हों।" इन उद्गारों में विरा-प्रकृति के साथ उनका सादृश्य प्रकट होता है।

सभ्यता के विकास से प्रकृति के साथ यह घनिष्ठता नहीं बनी रहती। मनुष्य जब क्रमशः इन्द्रियों से, मन से, कल्पना से, और भक्ति से बाह्य प्रकृति का संसर्ग लाभ कर लेता है, तब वह उसके परिचय की अन्तिम अवधि तक पहुँच जाता है। तब एक-मात्र प्रकृति ही उसका आश्रय नहीं रह जाती। प्रकृति के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में वह सदैव अस्थिरता देखता है। प्रकृति के सौन्दर्य-पुञ्ज में भी वह सम्पूर्णता नहीं उपलब्ध कर सकता। इससे उसको सन्तोष नहीं होता। फिर वह देखता है कि जिस चैतन्य-शक्ति का अनुभव उसने प्रकृति में किया, वह उसके अन्तर्जगत में भी विद्यमान है। अतएव अब उसका लक्ष्य अन्तर्जगत हो जाता है। वह प्रकृति के स्थान में मनुष्य-समाज को ग्रहण करता है। यही धर्म की नैतिक अवस्था है। यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौन्दर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने राम अथवा कृष्ण, सीता अथवा सावित्री के चरित्र में एक विचित्र प्रकार के सौन्दर्य का अनुभव किया। तब उन्होंने देखा कि बाह्य जगत में सौन्दर्य का पूर्ण विकास नहीं

होता। जहाँ जीवन का प्रकाश पूर्ण मात्रा में विद्यमान है, वहीं यथार्थ सौन्दर्य है; अतएव कला का लक्ष्य मुख्यतः जीवन ही है, और निर्मलता ही सौन्दर्य है। पवित्र स्वभाव अधिक मनोमोहक है। रमणी मूर्ति मातृमूर्ति अधिक चित्त आकृष्ट करती है। पुरुषों में शौर्य, दया और दाक्षिण्य अधिक आदरणीय हैं। अतः मनुष्य के इन्हीं गुणों की पराकाष्ठा दिखलाने के लिए आदर्श चरित्रों की सृष्टि होने लगी। प्रकृति को अन्त में गौण स्थान मिल गया है यदि वह है, तो मनुष्य के लिये। कुछ ने तो उसे मायाविनी समझ कर सर्वथा त्याज्य समझ लिया है।

मानव-चरित्र के विश्लेषण में कवियों और साधकों ने ज्यों-ज्यों चरित्र की महत्ता देखी, त्यों-त्यों उन्होंने अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव किया। उन्होंने यह अच्छी तरह देख लिया कि यदि इस शक्ति का पूर्ण विकास हो जाय तो मनुष्य देवोपम हो जाता है। राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्रों में उन्होंने एक ऐसी महत्ता देखी, जो संसार में अतुलनीय थी। तब ये ही उनकी उपासना के केन्द्र हो गये। आजकल हम लोगों के लिये ये चरित्र अतीत काल के हो गये हैं, परन्तु मध्य-युग के कवि और कला-कोविद इनका प्रत्यक्ष अनुभव करते थे। हमारे कवियों और साधकों के विषय में जो दंतकथायें प्रचलित हैं, उनमें यही बात कही जाती है कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार प्राप्त किया। यदि मिथ्या नहीं है। यह तुलसीदास और सूरदास जी अपने अंतःकरण में राम और कृष्ण का दर्शन न करते, तो

उनकी रचनाओं में वह शक्ति भी न रही, जो [illegible] है। दाँते ने स्वर्ग और नरक का ऐसा वर्णन किया है, मानो उसने स्वयं वहाँ की यात्रा की हो। इसके अतिरिक्त उसे और कुछ नहीं सूझ पड़ा। प्रत्यक्ष दर्शन न सही, परन्तु यह उस अनुभव का यह आवश्यक परिणाम है।

क्रमशः राम, कृष्ण, बुद्ध और ईसा के चरित्र आध्यात्मिक जगत में लीन हो गये। संसार से पृथक् होकर उन्होंने भाव-जगत में अलग स्थान प्राप्त कर लिया। जो सौंदर्य और प्रेम की धारा उनके चरित्रों से उद्भूत हुई थी, वह मानव-समाज में फैल कर विस्तृत हो गई। कबीर, चैतन्य, दादू, मीराबाई आदि वैष्णव कवियों ने अंतर्निहित सौंदर्य-राशि को प्रकट करने की चेष्टा की। उनकी आध्यात्मिक भावना का यह परिणाम हुआ कि अब प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्जगत के रहस्योद्घाटन करने का प्रयत्न किया जाता है। आस्कर वाइल्ड ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है कि बाह्य सौंदर्य उसको कितना ही मुग्ध क्यों न करे, वह सौंदर्य के पीछे एकात्म्य देखना चाहता है। संसार का जो सौंदर्य आप्लावित किये है, वह किसी एक ही स्थान में आबद्ध नहीं रह सकता। नीच और उच्च का भेद उसके लिये नहीं है। इसलिये सभी स्थानों में उसकी खोज की जाती है। एक प्रसिद्ध विद्वान का कथन है कि यदि यथार्थ वस्तु का संसर्ग इंद्रिय और चैतन्य से हो सके; यदि हम स्वयं अपनी सत्ता और वस्तु-सत्ता के साथ प्रत्यक्ष संयोग कर सकें, तो कला का रहस्य जान लें। तब

हम अपनी आत्मा के गंभीरतम स्थल में अपने अंतर्जगत के संगीत को सुन लें। यह संगीत कभी आनन्दमय, कभी विषाद-पूर्ण, परन्तु सर्वदा नवीन ही, बना रहता है। यह हमारे चारो ओर व्याप्त है। हमारे भीतर भी है, परन्तु हम इसका स्पष्ट अनुभव नहीं कर सकते। हमारे और विश्व-प्रकृति के बीच, हमारे और हमारे चैतन्य के बीच, एक परदा पड़ा हुआ है आध्यात्मिक कवि उस परदे के भीतर से भी अंतर्गत रहस्य को देख सकते हैं। परंतु सर्व-साधारण के लिए वह परदा रुकावट है।

आधुनिक साहित्य में जिस अध्यात्मवाद की धारा बह रही है, उसकी गति इसी ओर है। वह मनुष्य-मात्र के चरित्र का विश्लेषण कर उसमें आत्मा का सौन्दर्य देखना चाहता है। यही भाव अब नव हिंदू-साहित्य में भी प्रविष्ट हो रहा है। जड़-वाद के स्थान में आत्मचिंता और आत्मपरीक्षा के द्वारा यदि मनुष्य अंत:सौंदर्य का दर्शन कर सके, तो यह उसके लिए श्रेयष्कर ही है, क्योंकि तभी वह पुनः शांति के पथ पर अग्रसर होगा।

शिक्षा का उद्देश्य

[श्री सम्पूर्णानन्द]

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है—शिक्षा किस लिए दी जाय ? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य-विषयों का चुनाव होगा । पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र नहीं है । वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है । मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है ।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है । वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य-विषय मात्र नहीं है । प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा । उसी के आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा । जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा । एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे । जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित

कहलायेगी और मनुष्य के लिये अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराये देश का शोषण करना बुरा नहीं है। झूठ बोलना बुरा है पर राजनीतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ वर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गई हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है, वह पग-पग पर धर्मसंकट में पड़ जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच-विचार कर एक व्यापक दार्शनिक मत अंगीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असम्भव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम-धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमान काल में रूसने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक सूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिये स्थान नहीं है। मैं यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराकाल में अपने लिये जो आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका संश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। जिसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और

आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहीं शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहीं आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्या-वशात वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इससे अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ अल्प-शक्तिमत्ता आती है और इनका परिमाण दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उसे खोई हुई वस्तु, अपने स्वरूप, की निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करती है; कभी इस विषय की ओर दौड़ती है, कभी उसकी ओर, परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती, क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज भी जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति—यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है, और उसको इस पुरुपार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यावस्था सब से अच्छी है जिसमें पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम से कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज नहीं कर सकता, न पाठशाला का

अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिये गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना अनावश्यक है, वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नहीं है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द को भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ़ रही है पर उसे इसका पता नहीं है। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजों में ढूँढ़ती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी ही देर के लिए सुख का अनुभव होता है परन्तु थोड़ी देर के बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है, क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नहीं सकते। एक वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य ही मुठभेड़ होगी। चीज का उपभोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर

ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखों के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना मैत्री और दुःख को देखकर दुखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी-खेल नहीं हैं परंतु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है।

निष्कामिता की कुञ्जी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से परार्थसाधन, लोकसंग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जायँ। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिये सच्ची सेवा बन पड़ती है उसे बड़ा आनन्द मिलता है। भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिए

उसके साथ तन्मयता हो जाती है। 'मैं-पर' भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। 'मैं-तू' के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिये यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख प्यास से तड़पा करें; परंतु सेवा के अवसरों की कमी भी कभी नहीं होती सेवा करने में भाव यह न होना चाहिये कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं, जीव मात्र की करनी है। पशु-पक्षी-कीट-पतङ्ग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं में विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इंद्रियों के बंधन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट काव्य में कामोद्दीपन के लिये किया जाता है परंतु वह शांत रस का भी उद्दीपन करती है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्रों में सौंदर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे।

कर सकते हैं पर शत यह है कि ज्ञान औषधि की घूँट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिए अनुसंधान और आलोचना की बुद्धि का उद्‌बोधन होना चाहिए। यह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्ति यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिये। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा, उसके चित्त में जिज्ञासा—ज्ञान का आदर—होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा, सौन्दर्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथ्वी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सब संन्यासी होंगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नहीं होता। व्यापार, शासन, कुटुम्ब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों में राग द्वेष का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न मात्र कर सकते हैं। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो निःसन्देह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जायँगे और

अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथभ्रष्ट भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आपही पश्चात्ताप करेंगे और इन गलतियों को सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में गरीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकार कर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और पोषण पर खड़ी हो, उसमें अध्यापक अकेला भला क्या करे? जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, बाप-माँ में मार-पीट, गाली-गलौच मची रहती हो, उनके बच्चों को तो पालने में ही मानस-विष दे दिया जाता है। तंग गलियों और गंदे घरों में रहने वाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौन्दर्य को जल्दी नहीं समझ पाते। ऐसी दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्त्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—"अनेक शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर-देह पाई है

और मेरे पास छात्र-रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में सबल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण भी करना पड़ा तो वह जन्म इससे ऊँचे होंगे। इस समय यह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतन्त्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को तोड़ना चाहती है पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं के ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परि-स्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने अनन्त ज्ञान शक्ति आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार यह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा।"—इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाइ अपने घुटनों के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा, परंतु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी तो कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरु और

पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को ब्रह्मविद्या का पात्र और यजमान को दिव्य लोक का अधिकारी बनाना सब का काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरु रहे, न वह पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसलिये कर्त्तव्यच्युत हो जाएँ? हमको तो अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिये और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

भारतीय धर्म-साधना में कबीर का स्थान

[आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी]

भक्त की भगवान् के साथ जो आनन्द-केलि या प्रेम-लीला है वही मध्य-युग के समस्त भक्तों की साधना का केन्द्रबिन्दु है। भगवान् के साथ यह रसमय लीला ही भक्त का परम काम्य है,—लीला जिसका कोई प्रयोजन नहीं, फल नहीं, कारण नहीं, अन्त नहीं। इसी बात को मध्ययुग के अन्यतम वैष्णव भक्त विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कहा था, 'प्रेम ही परम पुरुषार्थ है,—प्रेमः पुरुपार्थो महान्।' 'साधारणतः जिनको पुरुषार्थ कहा जाता है वे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष भक्त के लिए कोई आकर्षण नहीं रखते और कबीरदास ने इसी बात को और भी शक्तिशाली ढङ्ग से कहा था—

राता-माता नाम का, पीया प्रेम अघाय।
मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाय॥

(क० वच० पृ० १२)

और भक्ति के आदर्श की घोषणा करते हुए द्विधाहीन भाषा में कहा है—

भाग विना नहिं पाये, प्रेम-प्रीति की भक्त।
विना प्रेम नहिं भक्ति कछु, भक्ति भर्यो सब जक्त॥
प्रेम विना जो भक्ति है, सो निज दम्भ विचार।
उदर भरन के कारने, जनम गवायौ सार॥

(स० क० सा० पृ० ४१)

परन्तु कबीरदास अपने युग के सगुणसाधना परायण भक्तों से कुछ भिन्न थे। यद्यपि दोनों को साधना केन्द्र बिन्दु यह प्रेम-भक्ति है,—इसे आनन्द केलि, प्रीति, भक्ति, प्रेमलीला आदि जो भी नाम दे दिया जाय—तथापि एक बात में वे सबसे अलग हो जाते हैं। हमने ऊपर लक्ष्य किया है कि भारतीय मनीषी उन दिनों स्मृति और पुराण ग्रन्थों की छान बीन में जुटे हुए थे उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ मानकर, सब के प्रति आदर का भाव बनाये रहकर अपने चलने का मार्ग तै करना। सगुणोपासक भक्तगण भी सम्पूर्ण रूप से इस पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक रहे। समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुण्ठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेम-पक्ष में लगाने लगे। इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों का प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करने में उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और

तामसिक-प्रकृति के प्रस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सब को उन्होंने उचित मर्यादा दी। यद्यपि अन्त तक चल कर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण ग्रंथ मानना पड़ा था पर उन्होंने किसी भी शास्त्र की उपेक्षा या अवहेलना न की। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और उनकी मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अन्यान्य शास्त्रों की संगति लगाई और एक अभूतपूर्व निष्ठा और मर्यादा-प्रेम को समाज में प्रतिष्ठित कराया।

कबीरदास का रास्ता उल्टा था। उन्हें सौभाग्यवश सुयोग भी अच्छा मिला था। जितने प्रकार के संस्कार पड़ने के रास्ते हैं वे प्रायः सभी उनके लिए बंद थे। वे मुसलमान होकर भी असल में मुसलमान नहीं थे, वे हिन्दू होकर भी हिंदू नहीं थे, वे साधु होकर भी साधु (=अगृहस्थ) नहीं थे, वे वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं थे, वे योगी होकर भी योगी नहीं थे। वे कुछ भगवान् की ओर से ही सबसे न्यारे बनाकर भेजे गये थे। वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानव प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भाँति वे नाना असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। हिरण्यकशिपु ने वर माँग लिया था कि उसको मार सकने वाला न मनुष्य हो न पशु; मारे जाने का समय न दिन हो न रात; मारे जाने का स्थान न पृथ्वी हो न आकाश; मार सकने वाला हथियार न धातु का हो न

पापाण का—इत्यादि। इसीलिये उसे मार सकना एक असंभव और आश्चर्यजनक व्यापार था। नृसिंह ने इसीलिये नाना कोटियों के मिलन-विंदु को चुना था। असंभव व्यापार के लिये शायद ऐसी ही परस्पर-विरोधी कोटियों का मिलन-विंदु भगवान् को अभीष्ट होता है। कबीरदास ऐसे ही मिलन-विंदु पर खड़े थे जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है, दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना—उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोप-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। उन्होंने इसका खूब उपयोग भी किया।

जैसा कि शुरू में ही बताया गया है, कबीरदास ने अपनी प्रेम-भक्ति-मूला साधना का आरम्भ एकदम दूसरे किनारे से किया था। यह किनारा सगुण साधकों के किनारे से ठीक उलटे पड़ता है। सगुण साधकों ने सब कुछ मान लिया था, कबीर ने सब कुछ छोड़ दिया था। प्रथम श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके अथक परिश्रम और अव्यर्थ धैर्य में है और कबीर की महिमा उनके उत्कट साहस में। उन्होंने सफेद कागज पर लिखना शुरू किया था। वे उस पाण्डित्य को बेकार समझते थे जो केवल

ज्ञान का बोझ ढोना सिखाता है, जो मनुष्य को जड़ बना देता है और भगवान् के प्रेम से वंचित करता है। भगवत्प्रेम पर उनकी दृष्टि इतनी दृढ़ निबद्ध थी कि इस ढाई अक्षर (प्रेम) को ही वे प्रधान मानते थे—

पढ़ि पढ़ि के पत्थर भया, लिखि लिखि भया जु ईंट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एकौ छींट॥
पोथा पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होइ॥

यह प्रेम ही सब कुछ है, वेद नहीं, शास्त्र नहीं, कुरान नहीं, जप नहीं, माला नहीं, तस्वीर नहीं, मंदिर नहीं, मस्जिद नहीं, अवतार नहीं, नबी नहीं, पीर नहीं, पैगम्बर नहीं। यह प्रेम समस्त वाह्याचारों की पहुँच के ऊपर है। समस्त संस्कारों के प्रतिपाद्य से कहीं श्रेष्ठ है। जो कुछ भी इसके रास्ते में खड़ा होता है, वह हेय है।

उन्होंने समस्त व्रतों, उपवासों और तीर्थों को एक साथ अस्वीकार कर दिया। इनकी संगति लगाकर और अधिकारी-भेद की कल्पना करके इनके लिए भी दुनिया के मान-सम्मान की व्यवस्था कर जाने को उन्होंने बेकार परिश्रम समझा। उन्होने एक अल्लाह निरंजन निर्लेप के प्रति लगन को ही अपना लक्ष्य घोपित किया। इस लगन या प्रेम का साधन यह प्रेम ही है और कोई भी मध्यवर्ती साधन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। प्रेम ही साध्य है,

प्रेम ही साधन,—व्रत भी नहीं, मुहर्रम भी नहीं, पूजा भी नहीं, नमाज़ भी नहीं, हज भी नहीं, तीर्थ भी नहीं,—

एक निरंजन अलह मेरा, हिन्दू तुरुक दुहूँ नहीं मेरा।
राखूँ व्रत न महर्रम जांनां, तिस ही सुमिरूँ जो रहे निदानां।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमसकारूँ।
नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछांण्यां तौ क्या दूजा
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन-सूं मन लागा।

(क० ग्रं० पद ३३८)

जो ये पीर-पैगंबर, काजी-मुल्ला, रोजा नमाज और पश्चिम की भक्ति हैं ये सभी गलत हैं और जो देव और द्विज, एकादशी और दिवाली पूरब दिशा की भक्ति हैं वे भी गलत हैं। भला हिंदुओं के भगवान तो मंदिर में रहते हैं और मुसलमानों के खुदा मस्जिद में, पर जहाँ मंदिर भी नहीं है और मस्जिद भी नहीं है वहाँ किस की ठकुराई काम कर रही है? कबीरदास ने इन सबको अस्वीकार कर दिया और उन लोगों को भी अस्वीकार कर दिया जो आँख मूंदकर चलना ही पसन्द करते हैं, अपने आत्माराम को ही संगी बनाकर वे निकल पड़े। बोले, ओ फकीर अपनी राह चल। मंदिर में भी मत जा और मस्जिद की ओर भी रुख न कर। काहे को टंटे में पड़ता है। तेरे राम-रहीम, केसौ करीमा में तो कोई भेद नहीं है, वह तेरे लिये तो दोनों एक ही हैं, 'एकमेवाद्वितीयम्'—

हमारे राम-रहीम-करीमा, केसौ-राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसभर एकै, और न दूजा कोई॥
इनके काजी-मुलां पीर-पैगम्बर, रोजा-पछिम-निवाजा।
इनके पूरब-दिसा-देव-दिज-पुजा, ग्यारसि-गंग-दिवाजा॥
तुरुक मसीति देहुरै हिंदू, दुहुँठा राम खुदाई।
जहाँ मसीति-देहुरा नाहीं, तहाँ काकी ठकुराई॥
हिंदू तुरुक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई।
अरध उरध दसहूँ दिस जित तित पूरी रह्यो राम राई॥
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई।
हिन्दू तुरुक का करता एकै, ता गति लखी न जाई॥

(क० ग्रं० पद ५८)

... परन्तु कबीर यहीं नहीं रुके। अगर 'अल्लाह' शब्द मुस्लिम धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिंदू संस्कृति का तो वे इन लोगों को सलाम कर देने को तैयार हैं। आखिर कोई न कोई शब्द तो व्यवहार करना ही पड़ेगा। पर अगर अरबी-फारसी के शब्द मुस्लिम संस्कृति की और संस्कृत-हिन्दी के शब्द हिन्दू संस्कृति की अवश्य याद दिला देते हैं तो कबीरदास इस बुद्धि-भेद को भी पनपने नहीं देते। ये वेद और कुरान के भी आगे बढ़कर कहते हैं—

गगन गरजै तहाँ सदा पावस झरै,
होता झनकार नित बजत तूरा,

वेद-कत्तेब की गम्म नाहीं तहाँ,
कहैं कबीर कोई रमै सूरा ।।

—(शब्दा० पृ० १०३)

इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारों को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर कबीरदास साधना के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। केवल अस्वीकार करना कोई महत्त्व की बात नहीं है। हर कोई हर किसी को अस्वीकार कर सकता है। पर किसी बड़े लक्ष्य के लिये बाधाओं को अस्वीकार करना सचमुच साहस का काम है। बिना उद्देश्य का विद्रोह, विनाशक है, पर साधु उद्देश्य से प्रणोदित विद्रोह शूर का धर्म है। उन्होंने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया। रूढ़ियों और कुसंस्कारों की विशाल वाहिनी से वह आजीवन जूझते रहे, प्रलोभन और आघात—काम और क्रोध भी उनके मार्ग में जरूर खड़े हुए होंगे उन्होंने उनको असीम साहस के साथ जीता। ज्ञान की तलवार उनका एक-मात्र साधन था, इस अद्भुत शमशेर को उन्होंने क्षण भर के लिए भी रुकने नहीं दिया। यह निरन्तर इकसार बजती रही, पर शील के स्नेह को भी उन्होंने नहीं छोड़ा,—यही उनका कवच था। इन कुसंस्कारों, रूढ़ियों और वाह्याचार के जंजालों को उन्होंने बेदर्दी के साथ काटा। वे सिर हथेली पर लेकर ही अपने भाग्य का सामना करने निकले थे। क्षण भर के लिए भी उनकी भवें कुंचित नहीं हुईं, माथे पर बल नहीं पड़ा। वे सच्चे शूर की भाँति जूझते ही रहे।

एक समसेर इकसार वजती रहै,
खेल कोइ सूरमा सन्त झेलै।
काम-दल जीति करि क्रोधि पैमाल करि,
परम सुख धाम तहँ सुरति मेले॥
सील से नेह करि ज्ञान कौ खड्ग ले,
आय चौगान में खेल खेलै।
कहैं कबीर सोई सन्त जन सूरमा,
सीसर को सौंप करि करम ठेलै॥

—(शब्दा० पृ० १०३)

जो लोग कबीरदास को हिन्दू-मुस्लिम धर्मों का सर्व-धर्म--समन्वयकारी सुधारक मानते हैं; वे क्या कहते हैं, ठीक समझ में नहीं आता। कबीर का रास्ता साफ था। वे दोनों को शिरसा स्वीकार कर समन्वय करने वाले नहीं थे। वे समस्त वाह्याचार के जंजालों और संस्कारों को विध्वंस करने वाले क्रान्तिकारी थे। समझौता उनका रास्ता नहीं था। इतने बड़े जंजाल को नाहीं कर सकने की क्षमता मामूली आदमी में नहीं हो सकती। कमजोर स्नायु का आदमी इतना भार वर्दास्त नहीं कर सकता। जिसे अपने मिशन पर अखंड विश्वास नहीं है वह इतना असम साहसी हो ही नहीं सकता।

कबीर ने जो समस्त वाह्य-आचारों को अस्वीकार करके मनुष्य को साधारण मनुष्य के आसन पर और भगवान को 'निरपख'

भगवान् के आसन पर बैठाने की साधना की थी उसका परिणाम क्या हुआ और भविष्य में वह उपयोगी होगा या नहीं, यह प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं। सफलता महिमा की एक-मात्र कसौटी नहीं है। आज शायद यह सत्य निविड़ भाव से अनुभव किया जाने वाला है कि सब की विशेषताओं को रखकर मानव-मिलन की साधारण भूमिका नहीं तैयार की जा सकती। जातिगत, कुलगत, धर्मगत, सस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसियत मे ही मिले। जब तक यह नहीं होता तब तक अशान्ति रहेगी, मारामारी रहेगी, हिंसा-प्रतिस्पर्द्धा रहेगी। कबीरदास ने इस महती साधना का बीज बोया था। फल क्या हुआ, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक काल के श्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने विश्वासपूर्वक गाया है कि जीवन में जो पूजायें पूरी नहीं हो सकी हैं, मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जो फूल खिलने से पहले ही पृथ्वी पर झड़ गया है, जो नदी मरुभूमि के मार्ग में ही अपनी धारा खो बैठी है,—मैं ठीक जानता हूँ कि वे भी खो नहीं गई हैं। जीवन में आज भी जो कुछ पीछे छूट गया है, जो कुछ अधूरा रह गया है, मैं ठीक जानता हूँ वह भी व्यर्थ नहीं हो गया है। मेरा जो भविष्य है, जो अब भी अछूता है, वे सब तुम्हारी वीणा के तार में बज रहे हैं। मैं ठीक जानता हूँ, वे भी खो नहीं गये हैं—

जीवने यत पूजा हलो ना सारा,
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा
ये फुल ना फुटिते झरेछे धरणीते
ये नदी मरुपथे हारालो धारा।
जानि हे जानि ताओ हयनि हारा।
जीवने आजो याहा रयेछे पिछे,
जानि हे जानि ताओ हय नि मिछे,
आमार अनागत आमार अनाहत
तोमार वीणा तारे वाजिछतारा
जानि हे जानि ताओ हय नि हारा।—गीतांजलि

कबीरदास की साधना भी न तो लोप हो गई है, न खो गई है। उनका पक्का विश्वास था कि जिसके साथ भगवान् हैं और जिसे अपने इष्ट पर अखण्ड विश्वास है उसकी साधना को करोड़-करोड़ काल भी झकझोर कर विचलित नहीं कर सकते—

जाके मन विश्वास है, सदा गुरु है सङ्ग।
कोटिकाल झकझोरहीं, तऊ न होय चित भङ्ग॥

(स० क० सा० पृ० १८४)



श्रद्धा-भक्ति

[आचार्य रामचन्द्र शुक्ल]

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण वा शक्ति का विकास देख उसके संबंध में जो एक स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धा महत्त्व की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है। यदि हमें निश्चय हो जायगा कि कोई मनुष्य बड़ा वीर, बड़ा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा दानी, बड़ा विद्वान, बड़ा परोपकारी, व बड़ा धर्मात्मा है तो वह हमारे आनन्द का एक विषय हो जायगा। हम उसका नाम आने पर प्रशंसा करने लगेंगे, उसे सामने देख आदर से सिर नवाएँगे, किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहेंगे, उसकी बढ़ती से प्रसन्न होंगे और अपनी पोषित आनन्द-पद्धति में व्याघात पहुँचने के कारण उसकी निंदा न सह सकेंगे। इससे सिद्ध होता है कि जिन कर्मों के प्रति श्रद्धा होती है उनका होना संसार को वांछित है। यही विश्व-कामना श्रद्धा की प्रेरणा का मूल है।

प्रेम और श्रद्धा में अंतर यह है कि प्रेम प्रिय के स्वाधीन कार्यों पर उतना निर्भर नहीं—कभी-कभी किसी का रूप मात्र, जिसमें उनका कुछ भी हाथ नहीं, उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होने का कारण होता है। पर श्रद्धा ऐसा नहीं है। किसी की सुन्दर आँख या नाक देखकर उसके प्रति श्रद्धा नहीं उत्पन्न होगी, प्रीति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के लिए इतना ही वस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, पर श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी वात में वढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है; प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार। किसी मनुष्य से प्रेम रखने वाले दो ही एक मिलेंगे, पर उस पर श्रद्धा रखने वाले सैकड़ों, हजारों, लाखों क्या करोड़ों मिल सकते हैं। सच पूछिए तो इसी श्रद्धा के आश्रय से उन कर्मों के महत्त्व का भाव दृढ़ होता रहता है, जिन्हें धर्म कहते हैं और जिनसे मनुष्य-समाज की स्थिति है। कर्त्ता से वढ़कर कर्म का स्मारक दूसरा नहीं। कर्म की क्षमता प्राप्त करने के लिए वार-वार कर्त्ता ही की ओर आँख उठती है। कर्मों से कर्त्ता की स्थिति को जो मनोहरता प्राप्त हो जाती है उस पर मुग्ध होकर वहुत-से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं। कर्त्ता अपने सत्कर्म-द्वारा एक विस्तृत क्षेत्र में मनुष्य की सद्वृत्तियों के आकर्षण का एक शक्ति-केन्द्र हो जाता है। जिस समाज में किसी ऐसे ज्योतिष्मान् शक्ति-केन्द्र का उदय होता है उस समाज में भिन्न-भिन्न हृदयों से शुभ

भावनाएँ मेघ-खंडों के समान उठकर तथा एक ओर एक साथ अग्रसर होने के कारण परस्पर मिलकर इतनी घनी हो जाती है कि उनकी घटा सी उमड़ पड़ती है और मंगल की ऐसी वर्षा होती है कि सारे दुःख और क्लेश बह जाते हैं।

हमारे अंतःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है, पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाए हुए कर्म-तंतु के उपादान से होता है। प्रिय का चिंतन हम आँख मूँदे हुए संसार को भुलाकर करते हैं, पर श्रद्धेय का चिंतन हम आँख खोले हुए संसार का कुछ अंश सामने रखकर, करते हैं। यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है। प्रेमी प्रिय को अपने लिये और अपने को प्रिय के लिए संसार से अलग करना चाहता है। प्रेम में केवल दो पक्ष होते हैं, श्रद्धा में तीन। प्रेम में कोई मध्यस्थ नहीं, पर श्रद्धा में मध्यस्थ अपेक्षित है। प्रेमी और प्रिय के बीच कोई वस्तु अनिवार्य नहीं, पर श्रद्धालु और श्रद्धेय के बीच कोई वस्तु चाहिए। इस बात का स्मरण रखने से यह पहचानना उतना कठिन न रह जायगा कि किसी के प्रति किसी का कोई आनन्दांतर्गत भाव प्रेम है या श्रद्धा। यदि किसी कवि का काव्य बहुत अच्छा लगा, किसी चित्रकार का बनाया चित्र बहुत सुन्दर जँचा और हमारे चित्त में उस कवि या चित्रकार के प्रति एक सुहृद्-भाव उत्पन्न हुआ तो वह भाव श्रद्धा है; क्योंकि यह काव्य या चित्र-रूप मध्यस्थ द्वारा प्राप्त हुआ है।

प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है; पर श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है। कभी-कभी केवल एक साथ रहते-रहते दो प्राणियों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि वे बराबर साथ रहें, उनका साथ कभी न छूटे। प्रेमी प्रिय के संपूर्ण जीवन-क्रम के सतत साक्षात्कार का अभिलाषी होता है। वह उसका उठना, बैठना चलना, फिरना, सोना, खाना, पीना, सब कुछ देखना चाहता है। संसार में बहुत से लोग उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं; पर सब का उठना-बैठना, चलना-फिरना उसके वैसा अच्छा नहीं लगता। प्रेमी प्रिय के जीवन से मिलकर एक निराला मिश्रण तैयार करना चाहता है। वह दो से एक करना चाहता है। सारांश यह कि श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँची है और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है। एक में व्यक्ति को कर्मों द्वारा मनोहरता प्राप्त होती है; दूसरी में कर्मों को व्यक्ति द्वारा। एक में कर्म प्रधान है, दूसरी में व्यक्ति।

किसी के रूप को स्वयं देखकर हम तुरन्त मोहित होकर उससे प्रेम कर सकते हैं, पर उसके रूप की प्रशंसा किसी दूसरे से सुन कर चट हमारा प्रेम नहीं उमड़ पड़ेगा। कुछ काल तक हमारा भाव लोभ के रूप में रहेगा, पीछे वह प्रेम में परिणत हो सकता है। बात यह है कि प्रेम एक मात्र अपने .. अनुभव पर निर्भर रहता है; पर श्रद्धा अपनी सामाजिक विशेषता के कारण दूसरों के अनुभव पर भी जगती है। रूप की भावना का बहुत कुछ

सम्बन्ध व्यक्तिगत रुचि से होता है। अतः किसी के रूप और हमारे बीच यदि तीसरा व्यक्ति आया तो इस व्यापार से सामाजिकता आ गई; क्योंकि हमें इस समय यह ध्यान हुआ कि उस रूप से एक तीसरे व्यक्ति को आनन्द या सुख मिला और हमें भी मिल सकता है। जब तक हम किसी के रूप का बखान सुनकर 'वाह-वाह' करते जायेंगे तब तक हम एक प्रकार के लोभी अथवा रीझने वाले या कद्रदान ही कहलायेंगे, पर जब हम उसके दर्शन के लिये आकुल होंगे, उसे बराबर अपने सामने ही रखना चाहेंगे, तब प्रेम का सूत्र-पात समझा जायगा। श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान् अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है।

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है, इससे अपनी श्रद्धा के बदले में हम श्रद्धेय से अपने लिये कोई बात नहीं चाहते। श्रद्धा धारण करते हुये हम अपने को उस समाज में समझते हैं जिसके किसी अंश पर—चाहे हम व्यष्टि-रूप में उसके अंतर्गत न भी हों—जान बूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला। श्रद्धा स्वयं ऐसे कर्मों के प्रतिकार में होती है जिनका शुभ प्रभाव अकेले हम पर नहीं, बल्कि सारे मनुष्य समाज पर पड़ जाता है। श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधिरूप में प्रकट करते हैं। सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध या घृणा प्रकट करने के लिये समाज ने प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिनिधित्व प्रदान कर रक्खा है। यह काम उसने इतना भारी समझा है कि

उसका भार सारे मनुष्यों को बाँट दिया है, दो-चार माननीय लोगों के ही सिर पर नहीं छोड़ रक्खा है। जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर क्रोध प्रकट करने के लिये जितने ही अधिक लोग तत्पर पाये जायँगे उतना ही वह समाज जागृत समझा जायगा। श्रद्धा की सामाजिक विशेषता एक इसी बात से समझ लीजिये कि जिस पर हम श्रद्धा रखते हैं उस पर चाहते हैं कि और लोग भी श्रद्धा रक्खें, पर जिस पर हमारा प्रेम होता है उससे और दस-पाँच आदमी प्रेम रक्खें—इसकी हमें परवाह क्या इच्छा ही नहीं होती, क्योंकि हम प्रिय पर लोभ वश एक प्रकार का अनन्य अधिकार या इजारा चाहते हैं, श्रद्धालु अपने भाव से संसार को भी सम्मिलित करना चाहता है, पर प्रेमी नहीं।

जब तक समष्टि-रूप में हमें संसार के लक्ष्य का बोध नहीं होता और हमारे अंतःकरण में सामान्य आदर्शों की स्थापना नहीं होती तब तक हमें श्रद्धा का अनुभव नहीं होता। बच्चों में कृतज्ञता का भाव पाया जाता है। पर सदाचार के प्रति उस कृतज्ञता का नहीं जिसे श्रद्धा कहते हैं अपने साथ किये जानेवाले जिस व्यवहार के लिये वे कृतज्ञ होते हैं उसी को दूसरों के साथ होते देख कर्ता के प्रति कृतज्ञ होना वे देर में सीखते हैं—उस समय सीखते हैं जब वे अपने को किसी समुदाय का अंग समझने लगते हैं। अपने साथ या किसी विशेष मनुष्य के साथ किये जानेवाले व्यवहार के लिये जो कृतज्ञता होती है वह श्रद्धा नहीं है। श्रद्धालु

की दृष्टि सामान्य की ओर होनी चाहिये, विशेष की ओर नहीं। अपने संबन्धी के प्रति किसी को कोई उपकार करते देख यदि हम कहें कि उस पर हमारी श्रद्धा हो गई है तो यह हमारा पाखंड है, हम झूठ-मूठ अपने को ऐसे उच्च भाव का धारण-कर्ता प्रकट करते हैं। पर उसी सज्जन को दस-पाँच और ऐसे आदमियों के साथ जब हम उपकार करते देखें जिन्हें हम जानते तक नहीं और इस प्रकार हमारी दृष्टि विशेष से सामान्य की ओर हो जाय, तब यदि हमारे चित्त में उसके प्रति पहले से कहीं अधिक कृतज्ञता या पूज्य-बुद्धि का उदय हो तो हम श्रद्धालु की उच्च पदवी के अधिकारी हो सकते हैं। सामान्य रूप में हम किसी के गुण या शक्ति का विचार सारे संसार से संबद्ध करके करते हैं, अपने से या किसी विशेष प्राणी से संबध करके नहीं। देखते हैं कि किसी मनुष्य में कोई गुण या शक्ति है जिसका प्रयोग वह चाहे जहाँ और जिसके प्रति कर सकता है।

श्रद्धा का मूल तत्त्व है दूसरे का महत्त्व-स्वीकार। अत: जिनकी स्वार्थ-बद्ध दृष्टि अपने से आगे नहीं जा सकती अथवा अभिमान के कारण जिन्हें अपनी ही बड़ाई के अनुभव की लत लग गई है उनकी इतनी समाई नहीं कि वे श्रद्धा-ऐसे पवित्र भाव को धारण करें। स्वार्थियों और अभिमानियों के हृदय में श्रद्धा नहीं टिक सकती। उनका अन्त:करण इतना संकुचित और मलिन होता है कि वे दूसरों की कृति का यथार्थ मूल्य नहीं परख सकते।

स्थूल रूप से श्रद्धा तीन प्रकार की कही जा सकती है—१. प्रतिभा-संबन्धिनी, २. शील-सम्बन्धिनी और ३. साधन-संपत्ति सम्बन्धिनी। प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अंतःकरण की उस उद्भाविका क्रिया से है जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियाँ उपस्थित की जाती हैं। यह ग्रहण और धारणा-शक्ति से भिन्न है, जिसके द्वारा इधर-उधर से प्राप्त ज्ञान (विद्वत्ता) संचित किया जाता है। कला-सम्बन्धिनी श्रद्धा के लिए श्रद्धालु में भी थोड़ी बहुत मार्मिक निपुणता चाहिये, इससे उसका अभाव कोई भारी त्रुटि नहीं, वह क्षम्य है। यदि किसी उत्तम काव्य या चित्र की विशेषता न समझने के कारण हम कवि या चित्रकार पर श्रद्धा न कर सकें तो यह हमारा अनाड़ीपन है—हमारे रुचि-संस्कार की त्रुटि है। इसका उपाय यही है कि समाज कला-संबंधिनी मर्मज्ञता के प्रचार की व्यवस्था करे, जिससे विविध कलाओं के सामान्य आदर्श की स्थापना ज्ञान-समूह में हो जाय। पर इतना होने पर भी कला-संबंधिनी रुचि की विभिन्नता थोड़ी बहुत अवश्य रहेगी। अश्रद्धालु रुचि का नाम लेकर ईर्ष्या या अहंकार के दोषारोपण से बच जाया करेंगे।

पर शील-संबंधिनी श्रद्धा प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। शील या धर्म के सामान्य लक्षण संसार के प्रत्येक सभ्य जन-समुदाय में प्रतिष्ठित हैं। धर्म ही से मनुष्य समाज की स्थिति है, अतः उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार का रुचि-भेद, मत-भेद आदि नहीं। सदाचार के प्रति हम श्रद्धा नहीं रखते तो समाज

के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करते। यदि किसी को दूसरों के कल्याण के लिये भारी स्वार्थ-त्याग करते देख हमारे मुँह से 'धन्य धन्य' भी न निकला तो हम समाज के किसी काम के न ठहरे, समाज को हमसे कोई आशा नहीं, हम समाज में रहने योग्य नहीं। किसी कर्म में प्रवृत्त होने के पहले यह स्वीकार करना आवश्यक होता है कि वह कर्म या तो हमारे लिए या समाज के लिये अच्छा है। इस प्रकार की स्वीकृति कर्म की पहली तैयारी है। श्रद्धा-द्वारा हम यह आनन्द-पूर्वक स्वीकार करते हैं कि कर्म के अमुक-अमुक दृष्टान्त धर्म के हैं, अतः श्रद्धा धर्म की पहली सीढ़ी है। धर्म के इस प्रथम सोपान पर प्रत्येक मनुष्य को रहना चाहिये, जिसमें जब कभी अवसर आए तब वह कर्म-रूपी दूसरे सोपान पर हो जाय।

अब रह गई साधन-सम्पत्ति-सम्बन्धिनी श्रद्धा की बात। यहाँ पर साधन-सम्पत्ति का ठीक-ठीक भाव समझ लेना आवश्यक है। साधन-सम्पत्ति का अनुपयोग भी हो सकता है, सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। किसी को पद्य रचने की अच्छी अभ्यास-सम्पन्नता है। यदि शिक्षा-द्वारा उसके भाव उन्नत हैं; वह सहृदय है तो वह अपनी इस सम्पन्नता का उपयोग मनोहर उच्चभावपूर्ण काव्य प्रस्तुत करने में कर सकता है, यदि उसकी अवस्था ऐसी नहीं है तो वह या तो साधारण, भाव-शून्य गद्य को गीतिका, शिखरिणी आदि नाना छन्दों में परिणत करेगा या अपनी भद्दी और कुरुचिपूर्ण

भावनाओं को छन्दो-बद्ध करेगा। इसके इस कृत्य पर श्रद्धा रखनेवाले भी बहुत मिल जायँगे। ऐसे व्यक्ति के प्रति जो श्रद्धा होती है वह साधन-सम्पन्नता पर ही होती है, साध्य की पूर्णता पर नहीं।



सच्चा मनोराज्य

[श्री वियोगी हरि]

महाराज भर्तृहरि ने भव्य भागीरथी के पुण्य तट पर यह कामना प्रकट की थी—

महादेवो देवः सरिदपि च सैषा सुरसरित्
गुहा एवागारं, वसनमपि ता एव हरितः।
सुहृद्वा कालोऽयं, व्रतमिदमदैन्यं व्रतमिदं
कियद्वा वक्ष्यामो वटविटप एवास्तु दयिता ॥

अर्थात्, महादेव शङ्कर ही हमारे एकमात्र देव हों, गङ्गा ही हमारी नदी हो, एक गुफा ही घर तथा दिशायें ही वस्त्र हों ! यह काल ही हमारा मित्र और किसी के आगे दीन न बनना ही हमारा जीवन-व्रत हो ! अधिक क्या, हमें रमणी ही की चाह हो, तो वट-विटप को अपनी अर्द्धाङ्गिनी मानें !

भर्तृहरि का यही सार्वभौम साम्राज्य है ! इस कामना को सुन कर लोग हँसेंगे और कहेंगे—भला यह भी कोई बुद्धिमत्ता की बात है ! यह कामना तो केवल कवि कल्पना में ही आ सकती है। उनके लिये कवि कल्पना ही सही, पर कुछ धूल-भरे हीरे ऐसे।

भी मिल जायँगे, जो भर्तृहरि की यह मनोवाञ्छा सुन कर कह उठेंगे-- नहीं, भाई ! यह कल्पना नहीं, सत्य है। सच्चा साम्राज्य तो यही है। देखो, मौज ही तो राज्य है। जिसके मन में मौज है, वही राजा है। मन चङ्गा तो कठौती में गङ्गा, उदयाचल से लेकर अस्ताचल-पर्यन्त प्रभुता पाकर भी जो संतोषी और शान्त नहीं; भला वह राजा कहा जा सकता है ? जिसका चंचल चित्त तृष्णा-तरंगिणी में गोते लगा रहा है, जो मिथ्याभिमान के पीछे लोलुप कुत्ते की नाईं दौड़ रहा है, उसकी अतुल सम्पत्ति सम्पत्ति नहीं, उसका समस्त सुख, सुख नहीं; उसका आसमुद्रान्त राज्य राज्य नहीं। जो मन का दास है, वह जहान का गुलाम है और जो मन का शासक है, वह दुनिया का शाहंशाह है। स्थितप्रज्ञ महापुरुष किस सम्राट् से कम है ! विषयी और लोलुप सम्राटों को, दरिद्र बादशाहों को, उन बेफिक्र मस्त फकीरों के साथ तुलना करनी ही मूर्खता है। सम्राटों की मुकुट-मणियाँ तो उन आत्माराम महात्माओं के पादपीठ पर सदा ही झिलमिलाया करती हैं। वे ही स्वर्गराज्य के युवराज हैं; परमानन्द के पूर्णाधिकारी हैं।

मनोराज्य सदा सर्वथा स्वतन्त्र है। यहाँ की व्यवस्था, यहाँ का कानून, यहाँ का प्रबन्ध अपूर्व, अद्भुत और अनुपम है। यहाँ की प्रजा ईति-भीति से दुःखी नहीं रहती। इसे कोई जीत नहीं सकता। यह राज्य भक्ति-विभोर महात्माओं को छोड़ और किसे मिला है ? जो इस राज्य में पैर रखता है, उसकी दृष्टि में संसार के समस्त रत्न नीरस हो जाते हैं। उसे कुबेर भी रङ्क जँचता है।

वह दीन और दुनिया दोनों की परवाह न कर पागल की तरह मस्त घूमा करता है। कभी हँसता है तो कभी रोता है; कभी दौड़ता है तो कभी नाचता है। वकता तो है अंटसंट; पर समझता है कि मैं बड़े-बड़े फिलासफरों (दार्शनिकों) के भी कान काट रहा हूँ।

इस राज्य के ऐश्वर्य में प्रमत्त कुछ रसिकों की कामनाएँ, उन्हीं के शब्दों में व्यक्त की जाती हैं। दिल की आँख हो तो पढ़िये, नहीं किसी काम-धन्धे में लग जाइये। सबसे पहले रसिक रसखानि को लीजिए—

मानुप हौं तो वही रसखानि, बसौं मिलि गोकुल गोप-गुवारन।
जो पसु हौं तो कहा वसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जु धरयौ कर छात्र पुरन्दर-कारन॥
जो खग हौं तो बसेरो करौं नित कालिन्दी कूल-कदंब की डारन॥

और तो और, आप पत्थर भी होने में अपना अहोभाग्य समझते हैं! यह कहाँ की अकलमन्दी है। रसखानि! तुम्हारी ऐसी बे सिर पैर की बातें, यदि कोई पढ़ा-लिखा समझदार सुन ले तो क्या कहे? पर तुम्हें उन समझदारों से कोई मतलब नहीं। कहने वाले हो तो तुम और सुनने वाले हो तो तुम। मनमौजी ही ठहरे! गोसाईं तुलसीदास ने तो कभी इन समझदारों की परवा नहीं की। कहते हैं—

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥

'तुलसी' सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचै सो कहै कछु ओऊ।
माँग कै खैबो, मसीत को सोइबो, लैबो को एक न देबे को दोऊ॥

रसखानि! तुम्हारी सब इच्छाएँ पूरी हुईं, हृदय-हीन विश्वास करें, या न करें; उन्हें समझाने-बुझाने के लिए हमारे पास समय नहीं। हृदय और मस्तिष्क में बड़ा भारी अन्तर है। जिसके सरस हृदय होगा, जख्मी दिल होगा, वही इस घर की परिपाटी समझेगा। रसखानि ने ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मोपासना नहीं की। उन्होंने तो केवल अपने प्यारे से प्रीति की, प्रेम से नाता जोड़ा। जो जब मन में आया, अपने उसी एक हृदयेश्वर को सुना दिया। उसने भी अपने रँगीले मित्र की मित्रता खूब निभायी। स्वर्गीय पं० राधाचरण गोस्वामी ने लिखा है--

दिल्ली नगर निवास, बादसा-बंस-विभाकर।
चित्र देखि मन हरो, भरो पन प्रेम सुधाकर।
श्रीगोवर्द्धन आक जबै दर्शन नहि पाये॥
टेढ़े-मेढ़े वचन रचन निर्भय ह्वै गाये।
तब आप आय सुमनाय की सुश्रूषा महमान की।
कवि कौन मिताई कहि सकै, श्रीनाथ साथ रसखान की॥

रसखानि का प्रेम-परत्व इन दोहों से कैसा टपकता है--

मोहन छवि रसखानि लखि अब दृग अपने नाहिं।
ऐंचे आवतु धनुष से छूटे सर से जाहिं॥
मो मन-मानिक लै गयौ, चितै चोरि नँदनंद।
अब मैं कहा करूँ बेमन अरी! परी फेर के फंद॥

उनका दृढ़ विश्वास तो यह था

देस विदेस के देखे नरेसन रीझि कै कोऊ न बूझ करैगो।
तातें तिन्हैं तजि जान गिर्‌यौ गुन सो गुन औगुन गाँठि परैगो॥
बाँसुरीवारो बड़ो रिझवार है स्याम जो नैकु सुढार ढरैगो।
लाड़लो छैल वही तौ अहीर कौ पीर हमारे हिये की हरैगो॥

एक मुसलमान महिला, जिसका नाम ताज था, नन्द के फरजन्द के प्रेम-फन्द में फँस कर, देखिए, क्या कामना कर रही है—

सुनौ दिलजानी, मेरे दिल की कहानी, तुम
इस्म ही विकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।
देवपूजा ठानी औ निमाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान, सारे कुगुननि गहूँगी मैं॥
साँवला सलौना सिरताज सिर कुल्लेदार !
तेरे नेह-दाघ में निदाघ ज्यों वहूँगी मैं।
नन्द के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तो मुगलानी, हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं॥

भक्त-सिरताज ताज इस राज में पैर रखते ही मुगलानी से हिन्दुवानी हो जाने को तैयार हो गयी। प्रेम की कुछ ऐसी धुन सवार हुई कि कमला और कुरान सभी तीन-तेरह हो गये। क्या हिन्दू धर्म और क्या इस्लाम, जहाँ से प्यारे की झलक मिले, वहीं अपना दीन है, वहीं अपना मजहब है। अपने काम के अटके क्या-क्या नहीं करना पड़ता ?

आवै यही जिय में अब तौ, सजनी, चलु सौतिहु के घर जैये।
मान घटै तो घटै पै कहा, जु पै प्रानपियारे को देखन पैये॥

प्रमोन्मत्त किसी भी मजहब के कायल नहीं। कुछ मुसलमान मस्तों के उदाहरण लीजिए —

मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मजहब इश्क है।
खाह हूँ मैं काफिरों में खाह दीदारों में हूँ॥

—जफर

बुतपरस्ती को तो इस्लाम नहीं कहते हैं।
मातकिद कौन है 'मीर' ऐसी मुसलमानी का॥

—मीर

जब से उस शोख के फन्दे में फँसे, टूट गये—
जितने थे मजहबो मिल्लत के जहाँ में बंधन॥

—नजीर

रसखानि और ताज ही नहीं, और भी कई कट्टर मुसलमान श्रीकृष्ण के प्रेम में मस्त हुए हैं, जिनके सम्बन्ध में भारतेन्दुजी ने लिखा है —

अली खान, पाठान-सुता सह ब्रज रखवारे।
सेख नबी, रसखानि, मीर अहमद हरि प्यारे॥
निरमलदास, कबीर, ताजखाँ बेगम बारी।
तानसेन, कृष्णदास, बिजापुर-नृपति-दुलारी॥
पिरजादी बीबी रास्ती, पद-रज नित सिर धारिये।
इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये॥

सच बात तो यह है कि उस अलौकिक रस का जरा भी चसका लग जाने पर त्रिलोक की भी सम्पदा धूल सी प्रतीत होती है। जाति-पाँति का बखेड़ा, ऊँच नीच का विचार, धन-जन की ऐंठ न जाने कहाँ चली जाती है। जिस प्रकार ज्वर में मुख का स्वाद बिगड़ जाता है, उसी प्रकार सारे भोगविलास नीरस जान पड़ते हैं। चित्त अधीर हो जाता है, मन चाहता है कि कब मीन बन उस अगाध सर-सागर में लीन रहूँ, कब चकोर हो प्यारे के मुखचन्द्र की ओर टक लगाये देखता रहूँ। कृष्णगढ़ाधीश महाराज नागरीदास को किस सांसारिक सुख की कमी थी? उनके पास सब कुछ था, पर मौज नहीं थी। तो भी राज पाट से बेतरह घबड़ा कर प्राय: कहा करते थे—

कहा भयौ नृप हू भये, ढोवत जग-बेगार।
लेत न सुख हरिभगति कौ, सकल सुखन कौ सार॥
जहाँ कलह तहँ सुख नहीं, कलह सुखन को सूल।
सबहि कलह इक राज में, राज कलह कौ मूल॥
हौं नित या मन मूढ़ तें, डरत रहत हौ हाय।
कृष्णचन्द्र की ओर तें, मति कबहूँ फिरि जाय॥

बस, ज्योंही नागरीदास जी का मन इस नकली राज्य से ऊबा, त्योंही उन्हें असली राज्य प्राप्त हो गया। उन्हें उस राज में क्या मिला, वे क्या से क्या हो गये, यह भारतेन्दु जी के शब्दों में सुनिये—

वल्लभ पथहिं दृढ़ाय कृष्णगढ़-राजहिं छोड़्यौ।
धन-जन-मान-कुटुम्बहिं बाधक लखि मुख मोड़्यौ॥
केवल अनुभव-सिद्ध गुप्त रस-चरित बखानैं।
हिय संयोग-उच्छलित और सपनेहुँ नहि जानैं॥
करि कुटी रमनरेती वसत, सम्पति-भक्ति कुबेर भे।
हरि-प्रेम माल-रस-जाल के नागरिदास सुमेर भे॥

विक्षिप्त नागरिदास शान्ति-लाभ से स्वयं ही कह उठे—

राज-कलह के मूल कौ विषअमल छुटायौ॥
'नागरिया' वृन्दा-विपिन रस-अमरित प्यायौ॥

एक प्रेमातुर गोपी की मनोभावना को देखिये—

होत रहै मन यों 'मतिराम', कहूँ बन जाइ बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिये लगिये, अरु ह्वै मुरली अधरा रसु लीजै॥

'वनमाल' होकर प्यारे के हृदय से लगने और 'मुरली' होकर उसका अधरामृत पीने में कितनी उत्कण्ठा है—कोई अन्दाजा नहीं लगा सकता। जिस मुरली पर इतना द्वेष प्रकट किया गया था कि—

भावतो मोहि मेरो 'रसखानि' सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी, अधरा न धरौंगी॥

आज प्रेमाधीरता-वश, उसी का रूप होने के लिये यह उद्गार निकल रहा है कि—

ह्वै मुरली अधरा-रसु लीजै !

जिसने भी इस भगवदीय मनोराज्य में पदार्पण किया, उसे यह स्वर्गीय सुधा चखने को मिली। लखनऊ के रईस साहु कुन्दनलालजी भी एक ऊँचे मनमौजी थे। इनका सम्बन्ध - नाम ललित किशोर था। इन्होंने अपना सारा बादशाही वैभव तृणवत् त्याग दिया था। ये सच्चे आशिक थे। प्रेमोन्मत्त हो आप कैसी कैसी कामनाएँ कर रहे हैं—

कदँब कुञ्ज ह्वै हौं कबै, श्रीवृन्दावन माहँ।
ललितकिसोरी लाड़िले विहरैंगे तिहि छाहँ॥
कब हौं सेवा-कुञ्ज में, ह्वै हौं स्याम तमाल।
लतिका कर गहि विरमिहैं ललित लड़ैती लाल॥
सुमन-वाटिका-विपिन में, ह्वै हौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते, धरिहैं बीनि दूकूल॥
कब कालीदह-कूल की, ह्वै हौं त्रिविध समीर।
जुगल अङ्ग-अङ्ग लागिहैं उढ़िहै नूतन चीर॥
मिलिहै अब अङ्ग छार ह्वै, श्रीवन-बीथिन-धूर।
परिहैं पद-पंकज विमल मेरी जीवनमूर॥
कब गहवर-बन गलिन में, फिरिहौं होय चकोर।
जुगलचंद्र-मुख निरखिहौं, नागरि नवलकिशोर।
कब कालिन्दी-कूल की, ह्वै हौं तरुवर-डार।
'ललितकिशोरी' लाड़िले, झूलें झूला डार॥

कैसा उत्तम व्यापक भाव है। इन दोहों में प्रेमोन्मत्त कवि प्रकृति के अणु-परमाणु के साथ एक-रूप होकर अपने प्रियतम की

किस भावुकता से आराधना कर रहा है। कौन कहता है कि हमारे कवियों ने प्रकृति की अवहेलना की है। हाँ, पाश्चात्य कवियों की भाँति कोरा प्रकृति पर्य्यवेक्षण उनके रसिक नेत्र में नहीं समाया! वे लोग अपने स्वर्गीय आदर्श को प्रकृति में ओत-प्रोत समझते थे। उनकी दृष्टि में नीलाम्बुद श्यामसुन्दर का कलित कलेवर, पूर्णचंद्र उनका मुख और प्रफुल्लित पङ्कज उनके रसीले नेत्र थे। भावुकजन प्रकृति को चैतन्यमूर्ति समझते हैं। वे धूल, पवन, वृक्ष, लता-पता, फूल-फल, चकोर-मोर आदि सभी बनने को तैयार हैं, बशर्ते कि वे सब प्रियतम के मिलने में सहायक हों।

और सुनिये—

जमुनापुलिन-कुञ्ज गहवर की
कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
पदपंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै
मधुरे-मधुरे गुंज सुनाऊँ॥
कूकर ह्वै बन-बीथिन डोलौं,
बचे सीथ संतन के पाऊँ।
'ललितकिसोरी' आज यही मम
ब्रज रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

'आशा हो तो यह, नहीं तो 'नैराश्यं परम सुखम्' ही अच्छा है। यह न समझ लेना कि शुभाशा कभी पूरी ही नहीं होती। ऐसा होता तो कौन 'आन का अंधा' अपने अमोल मन-मानिक को बेचकर नसमझों के सामने बेवकूफ बनता? हमारी तो दृढ़

धारणा है कि इस मनोराज्य में जिसने जैसी कामना की, तुरन्त पूरी हुई। प्रमाण हरिश्चन्द्र देते हैं।

इतवार न हो तो देख ले, क्या हरीचन्द का हाल हुआ?
पी प्रेम-पियाला भर-भर कर, टुक इस मय का भी देख मजा॥

इस प्रेमासव का एक ही घूँट पीकर देखो क्या होता है। होगा क्या, प्रेमोन्मत्त हो शायद तुम भी सुकवि हठी के साथ अपना स्वर मिला दो—

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुञ्जन कौ,
पशु कीजै महाराज नन्द के बगर कौ।
नर कीजै तौन, जौन राधे राधे नाम रटै,
तरु कीजै वर कूल कालिन्दी-कगर कौ॥
इतनै पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
राखियै न आन फेर 'हठी' के झगर कौ।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज!
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर कौ॥

अनन्य व्यास भी कुछ ऐसा ही राग अलाप रहे हैं—

ऐसो कब करिहो मन मेरो।
कर करवा, हरवा गुञ्जन कौ, कुञ्जन माहिं बसेरो।
ब्रजबासिन के टूक जूँठ, अरु घर-घर छाँछ महेरो॥
भूँख लगै तब माँगि खाउँगो, गिनौ न साँझ सवेरो।
इतनी आस 'व्यास' की पूजिये, मेरेग ाम न खेरो॥

अब गाँव-खेड़े का क्या करोगे, महाराज! संसार भर की जमींदारी तो दाब बैठे! धन्य व्यासजी! न माधो का लेना, न ऊधो का देना।

पूर्णकाम व्यास अब निश्चिन्त हो कहते हैं—

काहू के बल भजन कौ, काहू के आचार।
'व्यास' भरोसे स्याम के, सोवत पाँव पसार॥

खूब सुख की नींद सोइये अब चिन्ता ही किस बात की? सारी गृहस्थी का भार तो भगवान् के सिर पर रख दिया है, अब भी न सोओगे तो सोओगे कब?

कहु 'रहीम' का करि सकें, ज्वारी, चोर, लबार।
जाको राखनहार है, माखन-चाखनहार॥

जब चोर-शिरोमणि ही चौकसी कर रहा है, तब छोटे मोटे चोरों का क्या भय?

चिन्ता-सर्पिणी के विषम विष से कोई बचा है तो एक प्रेमानन्दमत्त भगवद्भक्त ही। प्रेम के आनन्द में उन्मत्त फकीर का मस्ताना कविवर नजीर ने क्या खूब खींचा है। देखिए—

जिस सिम्त नजर कर देखे हैं उस दिलबर की फुलवारी है।
कहीं सब्ज़ी की हरियाली है, कहीं फूलों की गुलकारी है॥
दिन रात मगन खुश बैठे हैं और आस उसी की भारी है॥
बस आप ही वह दातारी है, और आप ही वह भंडारी है॥
हर आन हँसी, हर आन खुशी, हर वक्त अमीरी है, बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है, बाबा॥

मनोराज्य की सीमा पर पैर रखना हर किसी के वश का नहीं। मन-माखन चोर कृष्ण से पहरा दिलाना सहज नहीं है यह सुख, यह रस बड़े भाग्य से मिलता है । बिना संत-स्वभाव प्राप्त किये यह सर्वतंत्र मनोराज्य कहाँ ? एक बार एकवृत्त चित्त से इस भावना पर तो ध्यान दीजिए—

कबहुँक हौं इह रहनि रहौंगो ?
श्रीरघुनाथ कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो।
जथा लाभ संतोष सदा काहू सौं कछु न चहौंगो।
परहित-निरत निरन्तर मन-क्रम-वचन नेम निबहौंगो ।।
परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तिहि पावक न दहौंगो ।।
बिगतमान, सम सीतल मन, पर गुन, औगुन न कहौंगो ।।
परिहरि देहजनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो ।।
'तुलसिदास' प्रभु इहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो ।।

इस भावना के साथ ही साथ यह भी मानना पड़ता है—

जेहि जेहि योनि करम बस भ्रमहीं।
तहँ-तहँ ईसु देहु यह हमहीं ।।
सेवक हम, स्वामी सियनाहू।
होउ नात इहि ओर निबाहू ।।

इसी प्रकार के कुछ और भी नाते गोसाईं जी स्थापित कर रहे हैं। एक पद में कहते हैं—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी ।।

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो ॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तुही ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हित मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों-त्यों 'तुलसी' कृपालु ! चरन-सरन पावै ॥

यही नाते सच्चे हैं, और सब झूठे। एक बार इस सम्बन्ध रस का सुख मिला कि फिर छोड़ा नहीं जाता। यही अनुभूत होता है कि जो सुख का निचोड़ था, वह पा लिया, 'जो जीवन का सार था, वह मिल गया, जो लक्ष्य था वह बेध लिया। इस अवस्था में आने से सारा रङ्ग-ढङ्ग ही बदल जाता है। नई-नई भावनाएँ उठती हैं। इस आनन्द-सागर से क्षणमात्र भी बाहर निकलना प्राणान्त दुःख-सा जान पड़ता है। सदा यही धुन सवार रहती है कि—

पान चरनामृत कौ गान गुन-गानन कौ,
हरिकथा-सुनें सदा हिये कौ हुलसिबो।
प्रभु के उतारन की गूदरी औ चीरन की,
भाल भुजा कंठ उर छापन कौ लसिबो ॥
'सेनापति' चाहत है सकल जनम भरि,
वृन्दावन-सीमा तें न बाहिर निकसिबो ॥
राधामनरंजन की सोभा नैन-कुंजन की,
माल गरे गुंजन की, कुंजन कौ बसिबो ॥

महाभाग बालि की, अन्त समय की, कामना क्या थी, सुनिये—

अब नाथ, करि करुना बिलोकहु, देहु जो वर मागऊँ ।
जेहि जोनि जनमहुँ करम बस, तहँ राम पद अनुरागऊँ ॥

प्राण-प्रयाण के समय की एक और मनोवाञ्छा सुनने में आई है। अहा !

कदंब की छह हो, जमुना का तट हो ।
अधर मुरली हो, माथे पर मुकुट हो ॥
खड़े हों आप इक बाँकी अदा से ।
मुकुट झोंके में हो, मौजे हवा से ॥
गिरे गरदन ढुलक कर पीत पट पर ।
खुली रह जायँ ये आँखें मुकुट पर ॥
दुशाले की एवज हो व्रज की धूल ।
पड़े उतरे हुये सिंगार के फूल ॥
मिले जलने को लकड़ी विरिज बन की ।
बने अकसीर धूल इस बदन की ॥
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा ।
तुम्हारा नाम हो, औ काम मेरा ॥

इस परमभक्त की यह मनोभावना विरले ही जान सकेंगे। "गिरे गर्दन ढुलक कर पीतपट पर, खुली रह जायँ ये आँखें मुकुट पर" इन पंक्तियों को, जान पड़ता है, भक्त भावना की मंजु मसि से अंकित किया है, खूनेजिगर से लिखा है। अन्त

काव्य का क्षेत्र

[श्री गुलाबराय एम० ए०]

वर्त्तमान युग में सत्यं शिवं सुन्दरम् कला और साहित्य जगत का आदर्श वाक्य बना हुआ है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद्-वाक्य का-सा महत्व प्रदान करते हैं। वास्तव में यह साहित्य-संसार का महा-वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातूं द्वारा प्रतिपादित The True The Good The Beautiful का शाब्दिक अनुवाद है। वह इतना सुन्दर है कि हमारी देशी भाषाओं में घुल मिल गया है। इसमें विदेशीपन की गंध तक नहीं आती। इसका एक मात्र कारण यह है कि यह भारतीय भावना के अनुकूल है। भारतवर्ष में यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है। वाणी के तप का उपदेश देते हुये योगिराज भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवगीता के सत्रहवें अध्याय में अर्जुन को बतलाया है कि ऐसे वाक्य का बोलना जो दूसरों के चित्त में उद्वेग न उत्पन्न करे, सत्य हो, प्रिय और हितकर हो तथा वेद शास्त्रों के अनुकुल हो वाणी का तप कहलाता है, देखिये :—

काव्य का क्षेत्र

[श्री गुलाबराय एम० ए०]

वर्त्तमान युग में सत्यं शिवं सुन्दरम् कला और साहित्य जगत का आदर्श वाक्य बना हुआ है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद्-वाक्य का-सा महत्व प्रदान करते हैं। वास्तव में यह साहित्य-संसार का महा-वाक्य यूनानी दार्शनिक अफलातूं द्वारा प्रतिपादित The True The Good The Beautiful का शाब्दिक अनुवाद है। वह इतना सुन्दर है कि हमारी देशी भाषाओं में घुल मिल गया है। इसमें विदेशीपन की गंध तक नहीं आती। इसका एक मात्र कारण यह है कि यह भारतीय भावना के अनुकूल है। भारतवर्ष में यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है। वाणी के तप का उपदेश देते हुये योगिराज भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवगीता के सत्रहवें अध्याय में अर्जुन को बतलाया है कि ऐसे वाक्य का बोलना जो दूसरों के चित्त में उद्वेग न उत्पन्न करे, सत्य हो, प्रिय और हितकर हो तथा वेद शास्त्रों के अनुकुल हो वाणी का तप कहलाता है, देखिये :—

है। सुन्दरम् तो उसके लिये उपेक्षा की वस्तु है। वह मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और गुण को भी परिणाम के ही रूप में देखता है। उसके लिए वीभत्स कोई अर्थ नहीं रखता।

धार्मिक सत्यं में शिवं की प्रतिष्ठा करता है। वही लक्ष्मीजी का माङ्गलिक घटों से अभिषेक करता है क्योंकि जल जीवन है, वह कृषि प्राण भारत का प्राण है और मानव माङ्गल्य का प्रतीक है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरम् का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी में शिवं और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है। वेदों में 'शिव संकल्पमस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है और शिव कल्याण या हित के नाते ही महादेव के नाम से अभिहित होते हैं। धार्मिक शिव के ही रूप में सत्य के दर्शन करता है।

साहित्यिक सत्य और शिव की युगल मूर्ति को सौन्दर्य का स्वर्णावरण पहना कर ही उनकी उपासना करता है। 'तुलसी मस्तक तव नवै धनुष बाण लेहु हाथ' साहित्य के हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक की दृष्टि में सत्यं शिवं सुन्दरम् में एक-एक भाव को यथाक्रम उत्तरोत्तर महत्ता मिलती है। वह सच्चिदानन्द भगवान् के गुणों में अन्तिम गुण को चरम महत्व प्रदान करता है। 'रसो वै सः'। सत्यनारायण भगवान् की वह रस रूप में ही उपासना करता है। सत्यं शिवं और सुन्दरम की त्रिमर्ति में एक ही सत्य रूप की प्रतिष्ठा है। सत्य कर्तव्य पथ में आकर शिवं

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैत वाङ्मय तप उच्यते ॥

सत्यं प्रियहितं सत्यं शिवं सुन्दरम् का ठेठ भारतीय रूप है। वाणी का तप होने के कारण साहित्य का भी आदर्श है। किरातार्जुनीय में हित और सुन्दर का योग बड़ा दुर्लभ बतलाया है—काव्य इसी दुर्लभ को सुलभ बनाता है। सत्य और शिव का समन्वय करते हुये कवीन्द्र रवीन्द्र ने 'दादू' नाम के बङ्गाली ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है 'सत्य की पूजा सौन्दर्य में है, विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है।' विष्णु तो सत्य के साथ शिव भी हैं। इसलिये तीनों ही कारणों का समन्वय हो जाता है। साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हंसवाहिनी माता शारदा का ध्यान 'वीणापुस्तक-धारिणी' के रूप में होता है। हंस नीर-क्षीर विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक है और वीणा सुन्दरम् का प्रतिनिधित्व करती है, पुस्तक सत्य और हित दोनों की साधिका कही जा सकती है।

सत्यं शिवं सुन्दरम् का सम्बन्ध ज्ञान और संकल्प नाम की मनोवृत्तियों तथा ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और कर्ममार्ग से है। सत्यं शिवं सुन्दरम् विज्ञान, धर्म और काव्य के पारस्परिक सम्बन्ध का परिचायक सूत्र भी है। विज्ञान का ध्येय है सत्य, केवल सत्य, निरावरण सत्य। शिवं उसके लिये गौण है, विज्ञान ने पेन्सिलीन की भी रचना की है और परमाणु बम को बनाया

है। सुन्दरम् तो उसके लिये उपेक्षा की वस्तु है। वह मनुष्य को भी प्रकृति के धरातल पर घसीट लाता है और गुण को भी परिणाम के ही रूप में देखता है। उसके लिए वीभत्स कोई अर्थ नहीं रखता।

धार्मिक सत्यं में शिवं की प्रतिष्ठा करता है। वही लक्ष्मीजी का माङ्गलिक घटों से अभिषेक करता है क्योंकि जल जीवन है, वह कृषि प्राण भारत का प्राण है और मानव माङ्गल्य का प्रतीक है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरम् का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी में शिवं और सुन्दरम् का सम्मिश्रण है। वेदों में 'शिव संकल्पमस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है और शिव कल्याण या हित के नाते ही महादेव के नाम से अभिहित होते हैं। धार्मिक शिव के ही रूप में सत्य के दर्शन करता है।

साहित्यिक सत्य और शिव की युगल मूर्ति को सौन्दर्य का स्वर्णावरण पहना कर ही उनकी उपासना करता है। 'तुलसी मस्तक तव नवै धनुष बाण लेहु हाथ' साहित्य के हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक की दृष्टि में सत्यं शिवं सुन्दरम् में एक-एक भाव को यथाक्रम उत्तरोत्तर महत्ता मिलती है। वह सच्चिदानन्द भगवान् के गुणों में अन्तिम गुण को चरम महत्व प्रदान करता है। 'रसो वै सः'। सत्यनारायण भगवान् की वह रस रूप में ही उपासना करता है। सत्यं शिवं और सुन्दरम् की त्रिमूर्ति में एक ही सत्य रूप की प्रतिष्ठा है। सत्य कर्तव्य पथ में आकर शिवं

बन जाता है और भावना से समन्वित हो सुन्दरम् के रूप में दर्शन देता है। सुन्दर सत्य का ही परिमार्जित रूप है। सौन्दर्य सत्य को ग्राह्य बनाता है। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने तीनों में एक ही रूप के दर्शन किये हैं—

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय में बनता प्रणय अपार;
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोकसेवा में शिव अविकार।

अँग्रेजी कवि कॉलरिज ने भी सत्य और सौन्दर्य का तादात्म्य करते हुए कहा है कि सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य है यही मनुष्य जानता है और यही जानने की आवश्यकता है।

सत्य और सुन्दर का तादात्म्य या समन्वय भी सम्भव है, इसमें कुछ लोगों का सन्देह है। बिना काट-छाँट के सत्य सुन्दर नहीं बनता। कला में चुनाव आवश्यक है। कलाकार सामूहिक प्रभाव के साथ ब्युरे का भी प्रभाव चाहता है और ब्युरे को स्पष्टता देने के लिए काट-छाँट आवश्यक हो जाती है। इसके विपरीत कुछ लोग यह कहेंगे कि सत्य में ही नैसर्गिक सुन्दरता है। साहित्यिक संसार को जैसा का तैसा नहीं स्वीकार करता। विश्व उसको जैसा रुचता है वैसा उसको वह परिवर्तित कर लेता है। शकुन्तला को दुष्यन्त ने लोकापवाद के भय से नहीं स्वीकार किया किन्तु लोकापवाद की भावना प्रेम के आदर्श के विरुद्ध है। वास्तविकता और

आदर्श में समन्वय के अर्थ कविवर कालिदास ऋषि दुर्वासा के शाप की उद्भावना करते हैं। अंगूठी के खो जाने को दुष्यन्त की विस्मृति का कारण बतला कर कवि ने प्रेम की रक्षा के साथ में घटना के सत्य का भी तिरस्कार नहीं किया। दुष्यन्त उसको स्वीकार नहीं करता है किन्तु वह अपने भाव की भी हत्या नहीं करता।

क्या अपनी रुचि के अनुकूल संसार को बदल लेने को ही कविकृत सत्य की उपासना कहेंगे? कवि सत्य की उपेक्षा नहीं करता वरन् सत्य के अन्तस्तल में प्रवेश कर वह उसे भीतर से देखता है। कवि भाव-जगत का प्राणी है; वह घटना के सत्य की उपेक्षा कर भावना के ही सत्य को प्रधानता देता है। वह प्रकृति की मक्खीमार अनुकृति नहीं चाहता। वह यान्त्रिक अर्थात् फोटोग्राफी के सत्य का पक्षपाती नहीं। न वह ऐतिहासिक है, न वैज्ञानिक। ये दोनों ही घटना के सत्य का आदर करते हैं। ये प्रत्यक्ष और ज्यादह से ज्यादह अनुमान को ही प्रमाण मानते हैं। कवि रवि की पहुँच से भी बाहर हृदय के अन्तस्तल में प्रवेश कर आन्तरिक सत्य का उद्घाटन करता है। कवि शाब्दिक सत्य के लिए विशेष रूप से उत्सुक नहीं रहता, घटना के सत्य को वह अपनाना अवश्य चाहता है किन्तु उसे वह सुन्दरम् के शासन में रखना कर्तव्य समझता है। लक्ष्मण जी के शक्ति लगने पर गोस्वामीजी मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी से कहलाते हैं 'निज जननी के एक कुमारा, मिलहि न जगत् सहोदर

भ्राता' पिता वचन मनतेउ नहिं ओहू।' इनमें से कोई वाक्य इतिहास की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतरता, किन्तु काव्य में इनका वास्तविक सत्य से भी अधिक महत्व है। कभी-कभी झूठ में ही सत्य की अधिक अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। लक्ष्मणजी का 'निज जननी के एक कुमारा' से अधिक महत्व था, क्योंकि वे त्यागी, तपस्वी और कर्तव्यपरायण थे। राम का उन पर स्नेह सहोदर भ्राता से भी अधिक था और व उनके लिए आदर्शों का भी बलिदान करने को प्रस्तुत थे। यह स्नेह की पराकाष्ठा थी।

फिर कवि के लिए सत्य का क्या अर्थ है? कवि एक और एक दो के सत्य में विश्वास नहीं करता। उसकी दृष्टि में एक और एक, एक ही रह सकते हैं और तीन भी हो सकते हैं। सत्य को क्षुद्र निश्चित अगतिशील सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता है। न वह फोटो केमरा के निष्क्रिय सत्य का उपासक है। वह मानव हृदय के जीते-जागते सत्य का पुजारी है। उसके लिए विचारों की आन्तरिक और वाह्य सङ्गति ही सत्य है। वह जन-साधारण के अनुभव की अनुकूलता एवं हृदय और विचार के साम्य को ही सत्य कहेगा। वह हृदय की सचाई को महत्व देगा। वह अपने हृदय को धोखा नहीं देता। उसकी भावना के सत्य और सौन्दर्य में सहज सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

साहित्यिक सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता है। कवि सम्भावना के क्षेत्र के वाहर नहीं जाता है, उसके

वर्णित विषय के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह वास्तविक संसार में घटित हुआ हो किन्तु वह असम्भव न हो। 'होरी' नाम का किसान किसी गाँव विशेष में रहता हो या न रहता हो किन्तु उसने जो कुछ किया वही किया जो साधारणतया उसकी जाति के लोग करते हैं। वह इतिहास नामों और तिथियों को महत्व न देता हुआ भी पूर्वापर क्रम से बँधा रहता है। वह अकबर को औरङ्गजेब का बेटा नहीं बना सकता। वातावरण का भी उसे ध्यान रखना ही पड़ता है। हाँ ब्युरे की बातों में वह भावोद्घाटन की आवश्यकताओं के अनुकुल मनचाहा उलट-फेर कर लेता है। मनुष्य में संकल्प की स्वतन्त्रता में विश्वास करता हुआ वह उसके कार्यक्रम में भी उलट फेर कर लेता है। एक स्थिति में कई मार्ग खुले रहते हैं। कवि को इस बात की स्वतन्त्रता रहती है कि उनमें से वह किसी को अपनावे। किन्तु प्रकृति के क्षेत्र में वह इतना स्वतन्त्र नहीं है कि वह धनियाँ और धान, सरसों और ज्वार को एक साथ खड़ा कर दे अथवा केशर को चाहे जहाँ उगा दे (जैसा केशव ने किया) जिन बातों में कवि लोगों का समझौत रहता है उनके प्रयोग में उस सत्य की परवाह नहीं रहती है। कवि अपनी रुचि के अनुकुल चित्र के ब्युरे को उभार में लाने के लिये वास्तविक संसार में काट-छाँट करता है और कूड़े-कर्कट को साफ कर असली स्वर्ण को सामने लाता है। वह अदालती गवाह की भाँति सत्य, पूर्ण सत्य और सत्य

के अतिरिक्त कुछ नहीं कहने की विडम्बना नहीं करता। जिस दृष्टिकोण से सत्यदेव की सुन्दर से सुन्दर और स्पष्ट से स्पष्ट झाँकी मिल सकती है उसी कोने पर वह पाठक को लाकर खड़ा कर देता है। इसीलिये वह सत्य के सुन्दरतम रूप दिखाने के लिये थोड़ा मायाजाल रचे या चमत्कार के साधनों का प्रयोग करे तो वह अपने क्षेत्र से बाहर नहीं जाता है। इस बात का उसे ध्यान रखना पड़ता है कि उसका सत्य लोक में प्रतिष्ठित सत्य के साथ मेल खा सके। सत्य भी सामञ्जस्य का ही रूप है। वैज्ञानिक और साहित्यिक के सत्य में इतना अन्तर अवश्य है कि द्रष्टा की मानसिक दशा के कारण जो वास्तविक अन्तर पड़ जाता है उसे वैज्ञानिक स्वीकार नहीं करता है और यदि स्वीकार भी करता है तो प्रमत्त के प्रलाप के रूप में। साहित्यिक भाव प्रेरित होने के कारण प्रमत्त-प्रलाप का भी आदर करता है। साहित्यिक झूठ में भी सत्य के दर्शन करता है। विरह-व्यथित नायिका के भ्रम का भी उसके हृदय में मान है——

विरह जरी लखि जोगन बनि, कही न बहिके बारि।
अरी आव भजि भीतरै, बरसत आजु अंगार॥

शिव क्या है और अशिव क्या है। शिव के साथ ही मूल्य का भी प्रश्न लगा हुआ है। आजकल मूल्य को इतना महत्व दया जाता है कि व्यावहारिक उपयोगितावादी (Pregmetists) सत्य की भी कसौटी उपयोगिता ही मानते हैं। इस सम्बन्ध

में साहित्यिक संकुचित उपयोगितावादी नहीं है। वह रुपये आना पाई का विशेष कर अपने सम्बन्ध में लेखा-जोखा नहीं करता। वह अपने को भूल जाता है किन्तु हित के रूप में मतभेद है। कोई तो केवल आर्थिक और भौतिक हित को ही प्रधानता देते हैं (जैसे प्रगतिवादी) और कोई उसकी अपेक्षाकर आध्यात्मक हित को ही महत्व प्रदान करते हैं। वास्तव में पूर्णता में ही आनन्द है। 'सुखम्' व्यक्ति की भी पूर्णता समाज में है। इसीलिये लोक हित का महत्व है। हित वही है जो लोक (यहाँ लोक का अर्थ परलोक के विरोध में नहीं है) को बनावे और लोक को बनाने का अथ है व्यक्तियों को भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों में सामञ्जस्य स्थापित कर उनको सुसङ्गठित और सुसम्पन्न एकता की ओर ले जाय। भेद में अभेद, यही सत्य का आदर्श है और यही शिव का भी मापदण्ड है। भेद में अभेद की एकता ही सम्पन्न एकता है। विकास का भी यही आदर्श है, विशेषताओं की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ अधिक से अधिक सहयोग और संगठन। जो साहित्य हमको इस ओर अग्रसर करता है वह शिवं का ही विधायक है। इस हित के आदर्श में सौंदर्य को भी स्थान है। भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ और काम तीनों को ही महत्व दिया गया है। तीनों का सन्तुलन और अविरोध वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का आदर्श है, वही मोक्ष और आनन्द का विधायक होता है।

सुन्दर क्या है? इसका भी उत्तर देना उतना ही कठिन है

जितना कि शिवं और सत्य का। कुछ लोग तो सौन्दर्य को विषयोगत ही मानते हैं 'समै-समै सुन्दर सबै, रूप कुरूप न कोय, मन की रुचि जेती जितै तित तेती रुचि होय।' लोग उसे विषयगत बतलाते हैं और कुछ उसे उभयगत कहते हैं। 'रूप रिझावनहार यह, वे नयना रिझवार' रवि बाबू ने रमणी-सौन्दर्य को आधा सत्य और आधा स्वप्न कहा है। आजकल अधिकांश लोग सौन्दर्य को विषयगत मानते हुये भी व्यक्ति पर पड़े हुए उसके प्रभाव का ही अधिक विवेचन करते हैं। कवियों की वाणी में प्रायः प्रभावों का ही वर्णन होता है। यह प्रभाव जड़-जगत तक व्याप्त दिखाया जाता है।

यहाँ पर सौन्दर्य की कुछ परिभाषाओं से परिचय प्राप्त कर लेना वाञ्छनीय है।

हमारे यहाँ सौन्दय या रमणीयता की जो परिभाषा अधिक प्रचलित है, वह इस प्रकार है :—

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवं रूपं रमणीयतायाः'

अर्थात् क्षण क्षण में जो नवीनता धारण करे वही रमणीयता का रूप है। विहारी की नायिका का चित्र न बन सकने और 'गहि-गहि गरब गरूर' आए हुये चित्रकारों के क्रूर बनने का एक यह भी कारण था कि क्षण क्षण के नवीनता धारण करने वाले रूप को वे पकड़ नहीं सकते थे। इस परिभाषा में वस्तु को प्रधानता दी गई है।

काव्य में जो माधुर्य गुण माना गया है उसका साहित्य दर्पणकार ने इस प्रकार लक्षण दिया है :—

'चित्त द्रवीभावमयो ऽह्लादो माधुर्यमुच्यते'

अर्थात् चित्त के पिघलाने वाले आह्लाद को माधुर्य कहते हैं। आह्लाद क्रूर और नृशंस का भी हो सकता है, जैसे कि रोमन लोगों को निहत्थे मनुष्यों को शेर से लड़वाने में आता था किन्तु माधुर्य आह्लाद सात्विक आह्लाद है। कुमारसम्भव में कहा है कि सौन्दर्य पाप वृत्ति की ओर नहीं जाता। यह वचन अव्यभिचार है अर्थात् सत्य ही है। सच्चा सौंदर्य स्वयं पाप वृत्ति की ओर नहीं जाता है और दूसरे को भी उस ओर जाने से रोकता है। सौंदर्य में सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति है।

सच्चा प्रेमी प्रेमास्पद को पाना नहीं चाहता है। वरन् अपने को उसमें खोना चाहता है। रवीन्द्र बाबू ने कहा है कि जल में उछलने वाली मछली का सौन्दर्य निरपेक्ष द्रष्टा ही देख सकता है, उसको पकड़ने की कामना करने वाला मछुआ नहीं। किन्तु वह निरपेक्ष दृष्टि बड़ी साधना से आ सकती है। कुमारसम्भव में तो श्मशानवासी भूतभावन मदनमर्दन भगवान् शिव की भी यह निरपेक्ष दृष्टि नहीं रही है फिर साधारण मनुष्यों की बात कौन? किन्तु नितांत निरपेक्ष दृष्टि न रखते हुये भी वासना में सात्विकता हो सकती है। साहित्य लौकिक वासना में इसी प्रकार की सात्विकता उत्पन्न कर देता है। कोई-कोई साहित्यिक आचार्य तो माधुर्य को उत्पन्न करने वाले अक्षर-

विन्यास पर उतर आये, नहीं तो माधुर्य का संबन्ध चित्त से ही है। काव्यप्रकाशकार ने कह भी दिया है "न तु वर्णानां" अर्थात् वर्णों से नहीं। माधुर्य जहाँ स्थायी होकर रहता है वहीं रमणीयता आ जाती है। तभी उसमें क्षण-क्षण में नवीनता धारण करने की शक्ति रहती है। सुन्दर वस्तु में रमणीयता प्रत्येक अवस्था में रहती है। उसको बाहरी अलङ्कारों की जरूरत नहीं होती।

चित्त के द्रवणशील आह्लाद के माधुर्य की व्याख्या में हम सात्विकता की उस दशा के निकट आ गये हैं जिसमें सौंदर्य का अनुभव करने वाला, सुन्दर वस्तु के रसास्वाद में अपने को खो देता है। इसी बात को आचार्य शुक्ल जी ने भी लिया है, वे लिखते हैं—

"कुछ रूप-रङ्ग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं, जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिये हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में परिणत हो जाते हैं। हमारी अनन्त सत्ता की यही तदाकार परिणति सौंदर्य की अनुभूति है। ......जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान वा भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह हमारे लिये सुन्दर कही जायगी"।

वह व्याख्या प्रभाव-सम्बन्धी है किन्तु भारतीय सात्विकता को लेकर चली है। यह तादात्म्य की बात साधारणीकरण से

सम्बन्ध रखती है। सौंदर्य पाठक और कवि के हृदय में तदाकार वृत्ति उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

सौंदर्य की और भी परिभाषाएँ और व्याख्याएँ हैं। कुछ लोग तो सौंदर्य को पूर्णता में मानते हैं। कुछ लोग सामञ्जस्य, संतुलन और एकरसता को प्रधानता देते हैं। वस्तु में का सामञ्जस्य हमारे मन में भी उसी सामञ्जस्य को उत्पन्न कर देता है। उससे हमारी विरोधी मनोवृत्तियों में और प्रवृत्तियों में साम्य उत्पन्न हो जाता है।

कुछ आचार्यों ने सौंदर्य में उपयोगिता को महत्व दिया है। उनके मत से उपयोगिता पर ही सौंदर्य आश्रित है। हर्बर्ट स्पेन्सर इसी मत के थे। कालिदास ने जो दिलीप के सौंदर्य का वर्णन किया है उसमें उपयोगिता का भाव लग जाता है किन्तु सब जगह नहीं। हर जगह उपयोगिता काम नहीं देती। यद्यपि हम सौंदर्य में सुकुमारता गुलाब के फूल के झाँमे से एड़ी को घिसने पर एड़ी लाल हो जाने वाली सुकुमारता के पक्ष में अधिक नहीं हैं फिर भी उसका मूल्य है। सौंदर्य ही स्वयं उसकी उपयोगिता है।

सौंदर्य की जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुकूल हो वही सुन्दर है। 'सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु' यह भी उपयोगिता का रूप है। क्रोचे ने अभिव्यक्ति को ही कला या सौंदर्य माना है। वह सफल विशेषण भी नहीं जोड़ना चाहता क्योंकि असफल अभिव्यक्ति, अभिव्यक्ति नहीं है। यह परिभाषा कलाकृतियों पर ही अधिक लागू होती है। इन परिभाषाओं से हम

इस तथ्य पर आये हैं कि सौन्दर्य का गुण किसी अंश में वस्तुगत है और उसका निर्णय तद्गत गुणों, रेखाओं आदि के सामञ्जस्य पर निर्भर है। इन गुणों, रूपों आदि का जितना सामञ्जस्यता-पूर्ण बाहुल्य होगा उतनी वह वस्तु सुन्दर होगी (क्रोचे ने सौन्दर्य में श्रेणी-भेद नहीं माना है वह असुन्दर की ही श्रेणियाँ मानता है) उसकी विषयगतता ही लोकरुचि का निर्माण करती है। वैयक्तिक रुचि यदि विरुद्ध भी हो तो उसकी सराहना नहीं की जाती।

सीतलतारु सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर।
पीनस वारो जो तज्यो, सोरा जानि कपूर॥

इसी के साथ सौंदर्य का विषयीगत पक्ष भी है जिसके कारण उसकी ग्राहकता आती है। सौंदर्य का प्रभाव भी विषयी पर ही पड़ता है इस लिये उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

सौंदर्य बाह्य रूप में ही सीमित नहीं है वरन् उसका आन्तरिक पक्ष भी है। उसको पूर्णता तभी आती है जब आकृति गुणों की परिचायक हो। सौंदर्य का आन्तरिक पक्ष ही शिव है। वास्तव में सत्य, शिव और सुन्दर भिन्न-भिन्न क्षेत्र में एक दूसरे के अथवा अनेकता में एकता के रूप हैं। सत्य ज्ञान की अनेकता में एकता है, शिव कर्मक्षेत्र की अनेकता की एकता का रूप है। सौंदर्य भाव क्षेत्र का सामञ्जस्य है। सौंदर्य को हम वस्तुगत गुणों वा रूपों के ऐसे सामञ्जस्य को कह सकते हैं जो हमारे भावों में साम्य उत्पन्न कर हमको प्रसन्नता प्रदान कर तथा हमको तन्मय कर ले।

यह सौंदर्य रस का वस्तुगत पक्ष है। रसानुभूति के लिये जिस सतोगुण की अपेक्षा रहती है, वह सामञ्जस्य का ही आन्तरिक रूप है। सतोगुण एक प्रकार से रजोगुण और तमोगुण का सामञ्जस्य ही है। उसमें न तमोगुण की सी निष्क्रियता रहती है और न रजोगुण की सी उत्तेजित सक्रियता। समन्वित सक्रियता ही सतोगुण है। इसी प्रकार के सौंदर्य की सृष्टि करना कवि और कलाकार का काम है। संसार में इस सौंदर्य की कमी नहीं। कलाकार इन सौंदर्य पर अपनी प्रतिभा का आलोक डाल कर जनता के लिये सुलभ और ग्राह्य बना देता है।

कवि जहाँ पर सामञ्जस्य का अभाव देखता है वहाँ वह थोड़ी काट-छाँट के साथ सामञ्जस्य उत्पन्न कर देता है। वही सामञ्जस्य पाठक वा श्रोता के मन में समान प्रभाव उत्पन्न कर उसके आनन्द का विधायक बन जाता है। सौंदर्य की इतनी विवेचना करने पर भी उसमें कुछ अनिर्वचनीय तत्व रहता है, जिसके लिये बिहारी के शब्दों में कहना पड़ता है 'वह चितवन औरे कछू जिहि बस होत सुजान'। इसी अनिर्वचनीयता के कारण प्रभाववादी आलोचना और रुचि को महत्व मिलता है।

एक रेखाचित्र

[सुश्री महादेवी वर्मा]

फागुन के गुलाबी जाड़े की वह सुनहली संध्या क्या भुलाई जा सकती है ! सवेरे के पुलकपंखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अंतराल से उन पर चलाये हुए सूर्य के सोने के शब्दवेधी बाण उनकी उन्मद गति में ही उलझ कर लक्ष्य-भ्रष्ट हो रहे थे।

पश्चिम में रंगों का उत्सव देखते-देखते जैसे ही मुंह फेरा कि नौकर सामने आ खड़ा हुआ। पता चला, अपना नाम न बताने वाले एक वृद्ध सज्जन मुझसे मिलने की प्रतीक्षा में बहुत देर से बाहर खड़े हैं। उनसे सवेरे आने के लिए कहना अरण्य-रोदन ही हो गया है।

मेरी कविता की पहिली पंक्ति ही लिखी गई थी, अतः मन खिसिया-सा आया। मेरे काम से अधिक महत्त्वपूर्ण कौन-सा काम हो सकता है, जिसके लिए असमय में उपस्थित होकर उन्होंने मेरी कविता को प्राणप्रतिष्ठा से पहले ही खण्डित मूर्ति के समान बना दिया ! 'मैं कवि हूँ' में जब मेरे मन का संपूर्ण अभिमान

पुञ्जीभूति होने लगा तब यदि विवेक का 'पर मनुष्य नहीं' में छिपा व्यंग बहुत गहरा न चुभ जाता तो कदाचित् मैं न उठती। कुछ खीझी, कुछ कठोर-सी मैं बिना देखे ही एक नयी और दूसरी पुरानी चप्पल में पैर डाल कर जिस तेजी से बाहर आयी उसी तेजी से उस अवांछित आगन्तुक के सामने निस्तब्ध और निर्वाक हो रही। बचपन में मैंने कभी किसी चित्रकार का बनाया कण्व-ऋषि-का चित्र देखा था—वृद्ध में मानों वह सजीव हो गया था। दूध से सफेद बाल और दूध फेनी-सी-सफेद दाढ़ी वाला वह मुख झुर्रियों के कारण समय का अंकगणित हो रहा था। कभी की सतेज आँखें आज ऐसी लग रही थीं मानो किसी ने चमकीले दर्पण पर फूंक मार दी हो। एक क्षण में ही उन्हें धवल सिर से लेकर धूल भरे पैरों तक, कुछ पुरानी काली चप्पलों से लेकर पसीने और मैल की एक बहुत पतली कोरे से युक्त खादी की धुली टोपी तक देख कर कहा—आप को पहचानी नहीं। अनु-भवों से मलिन, पर आँसुओं से उजली उनकी दृष्टि पल भर को उठी, फिर कास के फूल जैसी बरौनियां वाली पलकें झुक आयीं—न जाने व्यथा के भार से, न जाने लज्जा से।

एक क्लान्त पर शान्त कण्ठ से उत्तर दिया—'जिसके द्वार पर आया है, उसका नाम जानता है, इससे अधिक माँगने वाले का परिचय क्या होगा? मेरी पोती आपसे एक बार मिलने के लिये विकल है। दो दिन से इसी उधेड़-बुन में पड़ा था। आज साहस करके आ सका हूँ—कल तक शायद साहस न

ठहरता इसी से मिलने के लिए हठ कर रहा था। पर क्या आप इतना कष्ट स्वीकार करके चल सकेंगी? ताँगा खड़ा है।'

मैं आश्चर्य से वृद्ध की ओर देखती रह गई—मेरे परिचित ही नहीं अपरिचित भी जानते हैं कि सहज ही कहीं आती-जाती नहीं। यह शायद बाहर से आये हैं। पूछा—'क्या वह नहीं आ सकती?' वृद्ध के लज्जित होने का कारण मैं न समझ सकी; उनके ओठ हिले पर कोई स्वर न निकल सका—और वे मुँह फेर कर गीली आँखों को छिपाने की चेष्टा करने लगे। उनका कष्ट देख कर मेरा बीमारी के संबन्ध में प्रश्न करना स्वाभाविक ही था। वृद्ध ने नितान्त हताश मुद्रा में स्वीकृतिसूचक मस्तक हिला कर कुछ बिखरे से शब्दों में यह स्पष्ट कर दिया कि उनके वही एक पोती है जो आठ वर्ष की अवस्था में मातृ-पितृहीन और ग्यारहवें वर्ष में विधवा हो गयी थी।

अधिक तर्क-वितर्क का अवकाश नहीं था—सोचा वृद्ध की पोती अवश्य ही मरणासन्न है! बेचारी अभागी बालिका! पर मैं तो कोई डाक्टर या वैद्य नहीं हूँ और मुंडन, कनछेदन आदि में कवि को बुलाने वाले लोग अभी उसे गीतावाचक के समान अंतिम समय में बुलाना नहीं सीखे हैं। वृद्ध जिस निहोरे के साथ मेरे मुख का प्रत्येक भाव-परिवर्तन देख रहे थे, उसी ने मानो मेरे कण्ठ से बलात् कहला दिया—'चलिए, किसी को साथ ले लूँ क्योंकि लौटते-लौटते अँधेरा हो जावेगा।'

नगर की शिराओं के समान फैली और एक दूसरे से उलझी

(

हुई गलियों से, जिसमें दूषित रक्त-जैसा नालियों का मैला पानी बहता है और रोग के कीटाणुओं की तरह नंगे मैले बालक घूमते हैं, मेरा उस दिन विशेष परिचय हुआ। किसी प्रकार एक तिमंजिले मकान की सीढ़ियाँ पार कर हम लोग ऊपर पहुँचे। दालान में ही मैली फटी दरी पर खम्भे का सहारा लेकर बैठी हुई एक स्त्री-मूर्ति दिखाई दी, जिसकी गोद में मैले कपड़ों में लिपटा एक पिण्ड सा था। वृद्ध मुझे वहीं छोड़कर भीतर के कमरे को पार कर दूसरी ओर के छज्जे पर जा खड़े हुये, जहाँ से उनके थके शरीर और टूटे मन का द्वन्द्व धुँधले चल-चित्र का कोई मूक पर करुण दृश्य बनने लगा।

एक उदासीन कण्ठ से 'आइये' में निकट आने का निमन्त्रण पाकर मैंने अभ्यर्थना करनेवाली की ओर ध्यान से देखा। वृद्ध से उसकी मुखाकृति इतनी मिलती थी कि आश्चर्य होता था। वही मुख की गठन, उसी प्रकार के चमकीले पर धुँधले नेत्र और वैसे ही काँपते-से ओठ, रूखे बाल और मलिन वस्त्रों में उसकी कठोरता वैसे ही दयनीय जान पड़ती थी जैसी जमीन में बहुत दिन गड़ी रहने के उपरान्त खोद कर निकाली हुई तलवार। कुछ खिजलाहट भरे स्वर से कहा—'बड़ी दया की। पिछले पाँच महीने से हम जो कष्ट उठा रहे हैं उसे भगवान ही जानते हैं अब जाकर छुट्टी मिली है पर लड़की का हठ तो देखो। अनाथालय में देने के नाम से बिलखने लगती है, किसी और के पास छोड़ आने की चर्चा से अन्न-जल छोड़ बैठती है। बार बार समझाया कि

जिससे न जान न पहचान उसे ऐसी मुसीबत में घसीटना कहाँ की भलमनसाहत है; पर यहाँ सुनता कौन है! लाला जी बेचारे तो संकोच के मारे जाते ही नहीं थे, पर जब हार गये तब झख मार के जाना पड़ा। अब आप ही उद्धार करें तो प्राण बचे। इस लम्बी-चौड़ी सारगर्भित भूमिका से अवाक् मैं जब कुछ प्रकृतिस्थ हुई वस्तुस्थिति मेरे सामने धीरे-धीरे वैसे ही स्पष्ट होने लगी जैसे पानी में कुछ देर रहने पर तल की वस्तुएँ। यदि यह न कहूं कि मेरा शरीर सिहर उठा था, पैर अवसन्न हो रहे थे और माथे पर पसीने की बूँदें आ गई थीं तो असत्य कहना होगा। सामाजिक विकृति का बौद्धिक निरूपण मैंने अनेक बार किया है पर जीवन की इस विभीपिका से मेरा यही पहला साक्षात् था। मेरे सुधार-संबंधी दृष्टिकोण को लक्ष्य करके परिवार में प्रायः सभी ने कुछ निराश भाव से सिर हिलाकर मुझे यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि मेरी सात्विक कला इस लू का झोंका न सह सकेगी और साधना की छाया में पले मेरे कोमल सपने इस धुएँ में जी न सकेंगे। मैंने अनेक बार सबको यही उत्तर दिया है कि कीचड़ से कीचड़ को धो सकना न सम्भव हुआ है न होगा; उसे धोने के लिये निर्मल जल चाहिये। मेरा सदा से विश्वास रहा है कि अपने दलों पर मोती-सा जल भी न ठहरने देने वाली कमल की सीमातीत स्वच्छता ही उसे पंक में जाने की शक्ति देती है।

—और तब अपने ऊपर लज्जित होकर मैंने उस मटमैले शाल

को हटाकर निकट से उसे देखा जिसको लेकर बाहर भीतर इतना प्रलय मचा हुआ था। उग्रता की प्रतिमूर्ति-सी नारी की उपेक्षा-भरी गोद और मलिनतम आचरण उस कोमल मुख पर एक अलक्षित करुण की छाप लगा रहे थे। चिकने, काले और छोटे-छोटे बाल पसीने से उसके ललाट पर चिपक कर काले अक्षरों जैसे जान पड़ते थे और मुंदी पलकें गालों पर दो अर्धवृत्त बना रही थीं। छोटी लाल कली जैसा मुँह नींद में कुछ खुल गया था और उस पर एक विचित्र-सी मुस्कराहट थी, मानो कोई सुन्दर स्वप्न देख रहा हो। इसके आने से कितने भरे हृदय सूख गये, कितनी सूखी आँखों में बाढ़ आ गयी और कितनों को जीवन की घड़ियाँ भरना दूभर हो गया, इसका इसे कोई ज्ञान नहीं। वह अनाहूत, अवाञ्छित अतिथि अपने सम्बन्ध में भी क्या जानता है? इसके आगमन ने इसकी माता को किसी की दृष्टि में आदरणीय नहीं बनाया, इसके स्वागत में मेवे नहीं बँटे, बधाई नहीं गाई गई, दादा-नाना ने नाम नहीं सोचे, चाची-ताती ने अपने अपने नेग के लिए वाद-विवाद नहीं किया और पिता ने इसमें अपनी आत्मा का प्रतिरूप नहीं देखा। केवल इतना ही नहीं इसके फूटे कपाल में विधाता ने माता का वह अंक भी नहीं लिखा जिसका अधिकारी, निर्धन से निर्धन पीड़ित से स्त्री का बालक हो सकता है।

समाज के क्रूर व्यंग से बचने के लिये एक घोरतम नरक में अज्ञातवास कर जब इसकी माँ ने अकेले में छटपटा-छटपटा

कर इसे पाया तब मानों उसकी साँस छूकर ही यह बुझे कोयले से दहकता अंगारा हो गया। यह कैसे जीवित रहेगा, इसकी किसी को चिन्ता नहीं है। है तो केवल यह कि कैसे अपने सिर बिना हत्या का भार लिए ही इसे जीवन के भार से मुक्त करने का उपकार कर सकें! मन पर जब एक गम्भीर विषाद असह्य हो उठा तब उठकर मैंने उस बालिका को देखने की इच्छा प्रकट की। उत्तर में विरक्त-सी बुआ ने दालान की बाईं दिशा में एक अँधेरी कोठरी की ओर उँगली उठा दी।

भीतर जाकर पहले तो कुछ स्पष्ट दिखाई ही नहीं दिया, केवल कपड़ों की सरसराहट के साथ खाट पर एक छाया-सी उठती जान पड़ी पर कुछ क्षणों में जब आँखें अँधेरे की अभ्यस्त हो गईं तब मैंने आले पर रखे हुए दिये के पास से दियासलाई उठा कर उसे जला दिया।

स्मरण नहीं आता वैसी करुणा मैंने और कहीं देखी है। खाट पर बिछी मैली दरी, सहस्रों सिकुड़न भरी मलिन चादर और तेल के कई धब्बे वाले तकिये के साथ मैंने जिस दयनीय मूर्ति से साक्षात् किया उसका ठीक चित्र दे सकना सम्भव नहीं है। वह १८ वर्ष से अधिक की नहीं जान पड़ती थी—दुर्बल और असहाय जैसी! सूखे ओठ वाली, साँवले पर रक्तहीनता से पीले मुख में आँखें ऐसी जल रही थीं जैसे तेलहीन दीपक की बत्ती।

उस अस्वाभाविक निस्तब्धता से ही उसकी मानसिक स्थिति

का अनुमान कर मैं सिरहाने रखी हुई ऊँची चौकी पर से लोटे को हटा कर उसी पर बैठ गयी। और तब न जाने किसी अज्ञात प्रेरणा से मेरे मन का निष्क्रय विषाद क्रोध से सहस्र स्फुलिंगों में बदलने लगा।

अपने अकाल वैधव्य के लिये वह दोषी नहीं ठहराई जा सकती, उसे किसी ने धोखा दिया इसका उत्तरदायित्व भी उस पर नहीं रखा जा सकता, पर उसकी आत्मा का जो अंश, हृदय का जो खण्ड उसके समान है, उसके जीवन-मरण के लिये केवल वही उत्तरदायी है। कोई पुरुष, यदि उसको अपनी पत्नी नहीं स्वीकार करता तो केवल इसी मिथ्या के आधार पर वह अपने जीवन के इस सत्य को, अपने बालक को अस्वीकार कर देगी? संसार में चाहे इसको कोई परिचयात्मक विशेषण न मिला हो परन्तु अपने बालक के निकट तो यह गरिमामयी जननी की संज्ञा ही पाती रहेगी? इसी कर्तव्य को अस्वीकार करने का यह प्रबन्ध कर रही है। किसलिये? केवल इसलिए कि या तो उस वंचक समाज में फिर लौट कर गङ्गा-स्नान कर, व्रत-उपवास, पूजा-पाठ आदि के द्वारा सती विधवा का स्वाँग भरती हुई और भूलों की सुविधा पा सके या किसी विधवा-आश्रम में पशु के समान नीलाम पर चढ़ कर कभी नीची, कभी ऊँची बोली पर बिके, अन्यथा एक-एक बूँद विष पीकर धीरे-धीरे प्राण दे।

स्त्री अपने बालक को हृदय से लगा कर जितनी निर्भर है उतनी किसी और अवस्था में नहीं। वह अपनी संतान की रक्षा

के समय जैसी उग्र चण्डी है वैसी और किसी स्थिति में नहीं। इसी से कदाचित् लोलुप संसार उसे अपने चक्रव्यूह में घेर कर बाणों से चलनी करने के लिये पहले इसी कवच को छीनने का विधान कर देता है। यदि यह स्त्रियाँ अपने शिशु को गोद में लेकर साहस से कह सकें कि 'बर्बरो, तुमने हमारा नारीत्व; पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी' तो इनकी समस्याएँ तुरन्त सुलझ जावें। जो समाज इन्हें वीरता, साहस, और त्याग भरे मातृत्व के साथ नहीं स्वीकार कर सकता क्या वह इनकी कायरता और दैन्य भरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर पूजेगा? युगों से पुरुष स्त्री को उसकी शक्ति के लिये नहीं सहन शक्ति के लिये ही दण्ड देता आ रहा है।

मैं अपने भावावेश में इतनी अस्थिर हो उठी थी कि उस समय का कहा-सुना आज उसी रूप में ठीक-ठीक याद नहीं आता। परन्तु जब उसने खाट से जमीन पर उतर कर अपनी दुर्बल बाँहों से मेरे पैरों को घेरते हुये मेरे घुटनों में मुँह छिपा लिया, तब उसकी चुपचाप बरसती हुई आँखों का अनुभव कर मेरा मन पश्चात्ताप से व्याकुल होने लगा।

उसने अपने नीरस आँसुओं से अस्फुट शब्द गूंथ गूंथ कर मुझे यह समझाने का प्रयत्न किया कि वह अपने बच्चे को नहीं देना चाहती। यदि उसके दादा जी राजी न हों तो मैं उसके लिए ऐसा प्रबन्ध कर दूँ, जिससे उसे दिन में एक बार दो रूखी-सूखी

रोटियाँ मिल सकें। कपड़े वह मेरे उतारे ही पहन लेगी और कोई विशेष खर्च उसका नहीं है। फिर जब बच्चा बड़ा हो जायगा, तब जो काम मैं उसको बता दूँगी वही तन-मन से करती-करती वह जीवन बिता देगी।

पर जब तक वह फिर कोई अपराध न करे तब तक मैं अपने ऊपर उसका वही अधिकार बना रहने दूँ जिसे वह मेरी लड़की के रूप में पा सकती थी। उसके माँ नहीं है, इसी से उसकी इतनी दुर्दशा सम्भव हो सकी—अब यदि मैं उसे मां की ममता भरी छाया दे सकूँ तो वह अपने बालक के साथ कहीं भी सुरक्षित रह सकेगी।

उस बालिका माता के मस्तक पर हाथ रख कर मैं सोचने लगी कि कहीं यह वरद हो सकता। इस पतझर के युग में समाज से फूल चाहे न मिल सकें पर धूल की किसी स्त्री को भी कमी नहीं रह सकती, इस सत्य को यह रक्षा-याचना करने वाली नहीं जानती।

—पर २७ वर्ष की अवस्था में मुझे १८ वर्षीय लड़की और २२ दिन के नाती का भार स्वीकार करना ही पड़ा।

वृद्ध अपने सहानुभूतिहीन प्रान्त में भी लौट जाना चाहते थे, उपहास भरे समाज की विडम्बना में भी शेष दिन बिताने को इच्छुक थे और व्यंग भरे क्रूर पड़ोसियों से भी मिलने को आकुल थे, परंतु मनुष्यता की ऊँची पुकार में यह संस्कार के क्षीण स्वर दब गये।

अब आज तो वे किसी अज्ञात लोक में हैं। मलय के झोंके के समान मुझे कण्टक-वन में खींच लाकर उन्होंने जो दो फूलों की धरोहर सौंपी थी उससे मुझे स्नेह की सुरभि ही मिली है। हाँ, उन फूलों में से एक को शिकायत है कि मैं उसकी गाथा सुनने का अवकाश नहीं पाती और दूसरा कहता है कि मैं राज-कुमारी की कहानी नहीं सुनाती।



साहित्य-देवता

[श्री माखनलाल चतुर्वेदी]

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; कलम की जीभ को बोल लेने दो। किन्तु, हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम, केवल श्याम-मात्र होगा। परन्तु यह काली बूँदें अमृत बिन्दुओं से भी अधिक मीठी, अधिक आकर्षक, और मेरे लिए अधिक मूल्यवान् हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ।

\+ \+ \+

कौन-सा आकार दूँ? तुम मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनन्त 'जाग्रत' आत्माओं के ऊँचे पर गहरे 'स्वप्न' जो हो! मेरी काली कलम का वल, समेटे नहीं सिमटता। तुम, कल्पनाओं के मंदिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों के, और लड़ाके सिपाही के रक्तबिन्दुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचू मैं? तुम तो, वाणी के सरोवर में अंतरात्मा के निवासी

की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर पत्तियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को अपने रुपहलेपन में नहलाये हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ ? मानव जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मन्दिर, ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ ध्येय का माखनचोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में, 'राधे' कहकर नहीं दौड़ा आ रहा है ! आह, तब तो तुम, जमीन को आसमान से मिलाने वाले जीने हो, गोपाल के चरण चिह्नों को साध-साध कर चढ़ने के साधन। ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों, और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविन्द के पादारविन्द के पास पहुँच कर झूलने को मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह झूल पड़ता होगा !— आह, तुम कितने महान् हो ! इसलिए बेचारा लांगफेलो, तुम्हारे चरण चिह्नों के मार्ग की कुंजी तुम्हारे ही द्वार पर लटकाकर चला गया। चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं, और मेरी अमृत-निस्पंदिनी गाय व्रज-लता, दोनों सुनते हैं। "सखि चलो सजन के देश, जोगन वन के धूनी डालेंगे।"—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे, वहाँ मेरे मित्र 'शंभु' जी ने अपनी यह तान छेड़ी थी। परन्तु वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपाद और चतुष्पाद का, विश्व को निगूढ़ तत्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया, मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचने वाला था न ?

\+ + + +

हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को कच्चा खानेवाली जवान, और लज्जा ढँकने के लिए लपेटी जाने वाली वृक्षों की छालें,—वे, इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो—श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहजादे कपास के वृक्ष, वाकायदा, अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रखकर भू-पाल वनने के लिए वायु के साथ होड़ वद रहे हैं। इन दोनों जमानों के वीच की जंजीर—तुम्हीं तो हो। विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक वना, तुम्हीं न, कपास के तंतुओं से भी झीने तार खींचकर आचार ही की तरह विचार के जगत् में पांचाली की लाज वचाते आये हो? कितने दुःशासन आये, और चले गये। तुम्हारी वीन से, रात को तड़पा देने वाला सोरठ गाता हूँ, और सवरे, विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय, उसी वीन से, युद्ध के नक्कारे पर, डंके की चोट लगाता हूँ। नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरने वाली निम्नगाओं की मस्ती भरी दौड़ में, और उनसे निकलने वाली लहरों की कुरवानी से हरियाली होने वाली भूमि में, लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलांवर महासागरों में, और उनकी लहर को चीर कर गरीवों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिये दौड़ने वाले जहाजों के झंडों में, तुम्हीं लिखे दीखते हो। यदि तुम स्वर्ग न उतारते, तो मन्दिरों में किसकी आरती उतरती! वहाँ चमगीदड़ टँगे रहते; उल्लूक वोलते। मस्तिष्क के मन्दिर भी जहाँ तुमसे खाली हैं, यही तो हो रहा

है। कुतुबमीनारों और पिरामिडों के गुम्बज, तुम्हारे ही आदेश से, आसमान से बातें कर रहे हैं। आँखों की पुतलियों में, यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते, तो वे बिना दाँतों के ही चींथ डालतीं, बिना जीभ के ही रक्त चूस लेती। वैद्य कहते हैं, धमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है—क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है। व्यास का कृष्ण, और वाल्मीकि का राम, किसके पंखों पर चढ़कर, हजारों वर्षों की छाती छेदते हुए, आज लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं? वे चाहे कागज के बने हों, चाहे भोजपत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।

रूठो नहीं, स्याही के शृङ्गार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गये कि—

मैं तुम्हारा चित्र खींच रहा था!

+ + + +

परन्तु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? बड़ी टेढ़ी खीर है! सिपहसालार, तुम, देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छनकर, धमनियों में दौड़ने वाले रक्त की दौड़ हो; और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त तर्पण भी। आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की वंशी की धुन हो; धुन वह, जो 'गो-कुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैगंबरों का पैगाम,

अवतारों की आन, युगों को चीरती, किसी लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो, परम प्रकाश— स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिये बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे! ऐसे समय हमारे सम्पूर्ण युग का मूल्य तो, मेल-ट्रेन में पड़ने वाले छोटे से स्टेशन का-सा भी नहीं होता। पर इस समय तो, तुम मेरे पास बैठे हो। तुम्हारी एक मुट्ठी में भूत-काल का देवत्व छटपटा रहा है:—अपने समस्त समर्थकों को लेकर, दूसरी मुट्ठी में; विश्व का विकसित तरुण पुरुषार्थ विराजमान है। धूल के नन्दन में परिवर्तित स्वरूप, कुञ्ज-विहारी, आज कल्पना की फुलवारियाँ भी विश्व की स्मृतियों में, तुम्हारी तर्जनी के इशारों पर लहलहा रही हैं। तुम नाथ नहीं हो, इसीलिए कि मैं अनाथ नहीं हूं। किन्तु हे अनन्त पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ संभालते मेरे घर न आते, तो, ऊपर आकाश भी होता और नीचे जमीन भी, नदियाँ भी बहती सरोवर भी लहराते; परन्तु मैं और चिड़ियाँ दोनों, छोटे-छोटे जीव-जन्तु और स्वाभाविक अन्न-कण बीनकर अपना पेट भरते होते। मैं भर वैशाख में भी वृत्तों पर शाखामृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता परन्तु मेरा और विश्व के हरियालेपन का उतना ही संबन्ध होता जितना नर्मदा के तट पर, हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए टेलिग्राफ के खंभे का नर्मदा से कोई सम्बन्ध हो। उस दिन भगवान्

'समय' न जाने किसका, न जाने कब कान उमेठ कर चलते बनते ? मुझे कौन जानता ? विन्ध्या की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का भी इतिहास किसी के पास लिखा है ? इसीलिए तो मैं तुमसे कहता हूँ :—

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाहु।"

इसलिए कि अन्तरतर की सरल तूलिकाएँ समेटकर मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ !

"शिव संहार करते हैं"—कौन जाने ? किन्तु मेरे सखा, तुम जरूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य-गान उठता है। किन्तु यह अपनी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गये हैं, वातायन बन्द हो गये हैं। सूर्य की नित्य नवीन, प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों की यहाँ गुजर कहाँ ? वे तो द्वार खटखटाकर लौट जाती हैं। द्वार पर चढ़ी हुई बेलें, पानी की पुकार करती हुई बिना फलवती हुये ही, अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करने वाले अल्हड़ों को लेकर, युग, इस कुटी का कूड़ा साफ करने ही में लग जाना चाहता है। कितने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य-दर्शन नहीं होते। देवता ! तुम्हारे मन्दिर की जब यह अवस्था किये हुए हूँ तब बिना प्रकाश, बिना हरियालेपन, बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किए, तुम्हारे चित्र भी कहाँ उतार पाऊँगा ? विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता ! तुम्हारी तस्वीर खींचने में, शायद दैवी चितेरे

इसलिये असफल हुये । उन्होंने चन्द्र की रजतिमा की दावात में कलम डुबो-डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया, और प्रतीक्षा की उद्विग्नता में, सारा आसमान धवीला कर चलते बने ! इस बार, मैं पुष्प लेकर नहीं कलियाँ तोड़कर आने की तैयारी करूँगा; और, ऐ विश्व के प्रथम-प्रभात के मन्दिर, उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ा कर, तुम्हारे उस अंतरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ तुम, अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुये, शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होगे। आज तो उदास, पराजित, और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, अपने बाग में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल अन्तस्तल को छेदकर, उस समय, जब तुम नागाधिराज का मुकुट पहने, दोनों स्कंधों से आने वाले सन्देशों पर मस्तक डुला रहे होगे; गंगा और जमुना का हार पहने, वंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होगे, नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहने, विन्ध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होगे; कृष्णा और कावेरी का कोरा-वाला नीलाम्बर पहने, विजय नगर का संदेश, पुण्य-प्रदेश से गुजर कर, सह्याद्रि और अरावली को सेनानी बना, मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुये देहली से पेशावर और भूटान चीरकर, अपनी चिर कल्याणमयी वाणी से, विश्व को न्यौता पहुँचा रहे होगे, और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिंद-महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होगे;—ठीक उसी संनिकट

भविष्य में, हाँ सूजी से कलियों का अन्तःकरण छेद मेरे प्रियतम, मैं तुम्हारा चित्र खींचने आऊँगा। तब तक, चित्र खींचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी। बिना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आ गया।

देवता, वह दिन आने दो; स्वर सध जाने दो।

—:*:—

मध्यदेशीय संस्कृति और हिन्दी-साहित्य

[डा० धीरेन्द्र वर्मा एम० ए०, डी० लिट्]

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है! इस प्रकार, किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी सिद्धान्त के अनुसार अँगरेजी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों को उन भाषा-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिन्दी-साहित्य-के अध्ययन के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। हिन्दी-साहित्य के ठीक अध्ययन के लिये भी हिन्दी-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

सब से पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिंदी-भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है? अँग्रेजों के राज्यकाल में भारत की राजभाषा अँग्रेजी थी। मुगल काल में फारसी इस आसन पर आसीन थी। किन्तु फारसी और अँग्रेजी कभी भी

राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राजभाषाएँ थीं। राष्ट्रभाषा अन्तर्प्रान्तीय उपयोग की भाषा होती है। जब से भारत में व्यापक राष्ट्रीयता का आन्दोलन प्रचलित हुआ है तब से हिन्दी राष्ट्रभाषा अथवा अन्तर्प्रान्तीय भाषा के स्थान को लेने के लिये निरंतर अग्रसर होती रही है। तो भी बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र एवं गुजराती आदि की शिक्षित जनता बंगाली, मराठी, तेलगू और गुजराती आदि में ही अपने मनोभावों को प्रकट करती रही है। ये भाषाएँ अपने-अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस तरह राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ तीन पृथक् बातें हुईं। साहित्यिक भाषा ही किसी प्रदेश की असली भाषा कही जा सकती है—राजभाषा या राष्ट्रभाषा नहीं, अस्तु, वास्तव में उन्हीं प्रदेशों को हिंदी-भाषी की संज्ञा से सम्बोधित करना चाहिए जहाँ शिष्ट लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति हिन्दी में करते हैं तथा जहाँ की साहित्यिक भाषा हिन्दी है। भारत के मान-चित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उत्तरप्रदेश, दिल्ली, मध्य-प्रदेश राजस्थान, बिहार तथा मध्यभारत का भूमिभाग ही इसके अन्तर्गत आ सकता है। इसी को हम हिन्दी प्रदेश, या प्राचीन परिभाषा में मध्यदेश, कह सकते हैं। यह सच है कि इस प्रदेश के कतिपय भागों में, हिंदी को साहित्यिक भाषा के रूप में मानने के सम्बन्ध में जत्र-तत्र विरोध सुनाई पड़ता है। उदाहरणार्थ—बिहार प्रान्त में मैथिल पंडितों

का एक दल मैथिली को तथा राजपूताना के मारवाड़ प्रांत के कुछ विद्वान् डिंगल को ही उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा के लिए उपयुक्त समझने लगे हैं। यह विरोध कदाचित् क्षणिक है; किंतु यदि ये प्रदेश हिन्दी के साहित्यिक प्रभाव के क्षेत्र से अलग भी हो जावें तो भी हिंद या मध्यदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिन्द या मध्यप्रदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमें यह देखना है कि 'संस्कृति' क्या वस्तु है, तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं? संक्षेप में संस्कृति के अन्तर्गत—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) राजनैतिक परिस्थिति, तथा (४) सामाजिक संगठन—ये चार कसौटियाँ हैं, जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अन्तर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संङ्गठन में जाति-व्यवस्था एवं शिक्षा, कला का भी समावेश हो सकता है। हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरोप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किन्तु मध्यदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक।

आधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। लगभग संवत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिये। मध्ययुग का समय वि० सं० १ से १८०० सं० तक समझना चाहिये और प्राचीन युग का विक्रमी संवत् के प्रारम्भ से १२०० वर्ष पूर्व तक। इस प्राचीन युग का भी एक प्रकार से प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे भी पूर्व के समय को प्रागैतिहासिक युग में रख सकते हैं। इतने दीर्घकाल के इतिहास पर विहङ्गम दृष्टि से भी विचार करना सरल नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति की दृष्टि से मध्य-देश का इतिहास अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृति का तो यह एक प्रकार से उद्गम है। मध्यदेश की संस्कृति को ही यदि सम्पूर्ण भारत की संस्कृति कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में ऋक्, यजुः, साम आदि वेदों की संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, अरण्यक तथा उपनिषदों आदि की रचनाएँ हुईं। इनके पश्चात् यज्ञों की रूढ़ियों आदि के कारण एक प्रतिक्रिया हुई जिसके फल-स्वरूप बौद्ध तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन वैदिक धर्म के सुधार-स्वरूप ही ये दो नवीन धर्म उत्पन्न हुये थे। इन सुधार-आंदोलनों के साथ उसी समय 'वासुदेव-सुधार' आंदोलन भी प्रचलित हुआ जिसने बाद को 'वैष्णव धर्म' का रूप ग्रहण किया।

यदि संहिता-काल के धर्म पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि इस काल में उपासना के क्षेत्र में प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में परमसत्ता को देखने की ओर ही आर्यों का विशेष लक्ष्य था। इस काल में मन्दिर आदि पूजा-स्थानों का अभाव था। उदाहरणार्थ, प्रातःकालीन लालिमा के दर्शन कर आर्य ऋषि आनंद-विभोर हो उठते थे, जिसके फल-स्वरूप उषा के स्तवन में अनेक ऋचाएँ उनके गद्‌गद् कंठ से निःसृत हुईं। इसके पश्चात् यज्ञों की प्रधानता का समय आया, जिनमें धीरे-धीरे कर्मकांड और पशुबलि की प्रधानता हो गई। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सुधारवाद के अन्दोलनों ने—जिनमें बौद्ध, जैन तथा वासुदेव-सुधार सम्मिलित हैं—यज्ञ-काल के कर्मकाण्ड तथा हिंसा के विरुद्ध प्रचार किया।

अपनी संस्कृति के इतिहास के मध्यकाल में अनेक पुराणों की—जैसे विष्णु-पुराण, अग्नि पुराण, श्रीमद्‌भागवत् इत्यादि की सृष्टि हुई। इसी काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश, इस देव-त्रयी की प्रधानता धर्म के क्षेत्र में हुई। आगे चलकर जब पौराणिक धर्म में भी परिवर्तन हुआ तो शिव के साथ उमा की उपासना अनिवार्य हो उठी। तांत्रिकयुग में कालीरूप में इन्हीं उमा का हमें दर्शन होता है। पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद की प्रचण्ड लहर समस्त भारत को आप्लावित कर देती है। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश है।

सगुण भक्ति भी आगे चलकर राम तथा कृष्ण शीर्षक दो शाखाओं में विभक्त हो गई।

आधुनिक युग का निश्चयात्मक रूप अभी हम लोगों के सम्मुख नहीं आया है। सच तो यह है कि मनुष्य की तरह संस्कृति की भी एक आयु होती है। किंतु यह आयु लगभग ५०, ६० वर्ष की न होकर पाँच-छः सौ वर्षों की होती है। एक प्रधान लक्षण जो आधुनिक संस्कृति में दिखलाई पड़ता है वह है एक बार फिर सुधार की ओर झुकाव। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से प्राचीन आर्य धर्म का एक परिष्कृत रूप मध्यदेश की जनता के सामने आ चुका है। हिन्दी साहित्य एवं भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह बात विदित होगी कि हिंदी साहित्य का एक चरण मध्य युग में तथा दूसरा चरण आधुनिक युग में है। एक ओर रीतिकाल का आश्रय लेकर कवित्त-सवैयों में रचना हो रही है तो दूसरी ओर छायावाद तथा रहस्यवाद के रूप में काव्य की नवीन धारा प्रवाहित हो रही है। धर्म की भी यही दशा है। यद्यपि देश, काल तथा परिस्थिति की छाप आधुनिक धर्म पर लग चुकी है, फिर भी कई बातों में हम लोग मध्य युग के धर्म से अभी तक बहुत ही कम अग्रसर हो पाये हैं।

विश्लेषणात्मक ढङ्ग से हिंदी-साहित्य के इतिहास पर विचार करने से यह बात विदित होती है कि हिंदी साहित्य पर वैदिक

काल का प्रभाव नहीं के बराबर है। यद्यपि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने अनेक स्थानों पर वेद की दुहाई दी है। किंतु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गोस्वामी जी संहिताओं से विशेष परिचित नहीं थे। कम से कम इसका कोई भी निश्चित प्रमाण उनकी रचनाओं से उपलब्ध नहीं होता।

हिंदी की उत्पत्ति के बहुत काल पूर्व बौद्ध तथा जैन धर्म का एक प्रकार से भारत से लोप हो चुका था। ऐसी दशा में हिंदी साहित्य पर इन दोनों धर्मों के स्पष्ट प्रभाव का पता न लगना स्वाभाविक है। अब रह गया पौराणिक धर्म, इसका प्रभाव अवश्य विशेष रूप से हिंदी-साहित्य पर पड़ा है। राम तथा कृष्ण दोनों-विष्णु के अवतार हैं और इन दोनों को लेकर मध्य युग तथा आधुनिक काल में अनेक रचनाएँ हिंदी-साहित्य में प्रस्तुत की गई हैं।

तांत्रिक धर्म का प्रभाव पूर्व की ओर विशेष रूप से था। बङ्गाल में शक्ति की उपासना का प्रादुर्भाव इसी के परिणाम स्वरूप था। आगे चलकर वैष्णवों की 'राधा' की उपासना पर भी इस तांत्रिक धर्म का प्रभाव पड़ा।

वासुदेव-सुधार की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वास्तव में वैष्णव धर्म तथा बाद के भक्ति-संप्रदायों का मूल-स्रोत यही था। हिंदी-साहित्य का इस भक्ति-संप्रदाय से अत्यन्त घनिष्ठ संपर्क रहा है। हमारा प्रचीन हिंदी-साहित्य एक प्रकार से धार्मिक साहित्य है। इसमें शिव का रूप गौण है। प्रधान रूप से विष्णु

का रूप ही भक्ति के लिये उपयुक्त समझा गया। अतएव राम तथा कृष्ण के अवतारों के रूप में त्रयी के विष्णु का प्राधान्य मिलता है। यद्यपि संहिता तथा उपनिषदों तक में भक्ति की चर्चा मिलती है, किंतु इसका विशेष विकास तो पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में ही हो सका।

आधुनिक युग में धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है। अतएव आधुनिक हिंदी साहित्य में भी धार्मिकता की विशेष पुट नहीं है। आजकल हिंदी में रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं। यदि इन वादों में कहीं ईश्वर की सत्ता है भी, तो निर्गुण रूप में ही है। इधर कवींद्र रवींद्र पर कबीर की गहरी छाप पड़ी और आधुनिक हिंदी कविता बङ्गाली रचनाओं से बहुत कुछ प्रभावित हुई। इस प्रकार धर्म के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि पौराणिक तथा भक्ति-धाराएँ ही प्रधानतया हिंदी कवियों के सम्मुख उपस्थित रही हैं।

जैसी परिस्थिति हम धार्मिक प्रभावों के सम्बन्ध में पाते हैं लगभग वैसी ही परिस्थिति साहित्य के क्षेत्र में भी पाई जाती है। वैदिक साहित्य का हिंदी साहित्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। शैली, छंद तथा साहित्यिक आदर्श, किसी भी रूप में, वैदिक साहित्य का प्रभाव हिंदी साहित्य पर दृष्टिगोचर नहीं होता। पौराणिक साहित्य से हिंदी साहित्य अवश्य प्रभावित हुआ है। पुराणों में भी श्रीमद्भागवत ने विशेष रूप से हिंदी साहित्य को

प्रभावित किया। कथानक के रूप में रामायण तथा महाभारत से भी हिन्दी-साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है। राम तथा कृष्ण-काव्य-सम्बन्धी अनेक आख्यान संस्कृत इतिहास और पुराणों से हिंदी साहित्य में लिए गये हैं।

संस्कृत-साहित्य का मध्ययुग वास्तव में महाकाव्यों का युग था। इस काल में संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों तथा नाटकों की रचनाएँ हुईं। साधारणतया इन महाकाव्यों का भी प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा है। यह बात दूसरी है कि हिन्दी के महाकाव्यों में मानव-जीवन की उस अनेक-रूपता का एक प्रकार से अभाव है जो संस्कृत महाकाव्यों में स्वाभाविक रूप में वर्तमान है। केशव की रामचन्द्रिका लक्षण-ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य अवश्य है; किन्तु उसमें जीवन की वे परिस्थितियाँ कहाँ जो महाकाव्य के लिये अपेक्षित हैं। संस्कृत के रीति-ग्रंथों का भी हिंदी-रीति-ग्रन्थों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के कई रीति-ग्रंथ तो संस्कृत काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रंथों के केवल रूपान्तर मात्र हैं।

विचार करने से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि आधुनिक हिंदी साहित्य का रूप अभी तक अव्यवस्थित तथा अस्थिर है। इस युग के प्राय: अधिकांश नाटक संस्कृत के अनुवाद मात्र हैं। मौलिक नाटकों की रचना का यद्यपि हिंदी में प्रारम्भ हो चुका है, किंतु मौलिकता की जड़ें पक्की नहीं हो पाई हैं। हिंदी के कई नाटकों पर द्विजेंद्रलाल राय की शैली की स्पष्ट छाप है। वर्नर्डशा

जैसे अंग्रेजी के आधुनिक नाट्यकारों का अनुकरण भी दिन-दिन बढ़ रहा है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी नाटक तेजी से आधुनिकता की ओर झुक रहे हैं।

एक स्थान पर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक हिंदी साहित्य का एक पैर अभी तक मध्ययुग में है। यह बात प्राचीन परिपाटी के नवीन काव्यग्रन्थों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आधुनिक ब्रजभाषा के अधिकांश काव्यग्रंथों में धार्मिकता तथा साहित्यिकता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। रीति-ग्रंथों का भी लोप नहीं हुआ। अभी हाल ही में 'हरिऔध' ने 'रस-कलश' के रूप में इस विषय पर एक वृहत् ग्रंथ हिंदी साहित्यिकों के लिये प्रस्तुत किया है।

हिंदी साहित्य का अध्ययन करने पर एक बात विशेष रूप से खटकती है और यह राजनीति तथा समाज की ओर कवियों की उपेक्षावृत्ति। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उनकी रचना में तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव चित्र की अभिव्यंजना रहती है। किंतु जब हम इस दृष्टि से हिंदी साहित्य, विशेषतया पद्यात्मक रचनाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। यह परिस्थिति कुछ-कुछ पहले भी थी और आज भी कायम है। सूरदास, नंददास आदि कृष्णभक्त तथा बाद के आचार्य कवियों के अध्ययन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि मानों इन्हें देश, जाति तथा समाज से कोई वास्ता ही न था। मथुरा, वृन्दावन आगरे के अत्यन्त समीप

हैं, किन्तु देश की राजनीतिक समस्याओं का इन भक्त कवियों की रचना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। यह हिंदियों तथा हिन्दी साहित्य दोनों के लिये दुर्भाग्य की बात है। जब हम मध्यकाल के मराठी साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो उसमें देश-प्रेम तथा जातीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। शिवाजी के राजनीतिक गुरु समर्थ रामदास में तो देश तथा जातीयता के भावों का बाहुल्य था। हिंदी के मध्ययुग में लाल तथा भूषण दो ही ऐसे प्रधान कवि हैं, जिनमें इस प्रकार के कुछ भाव विद्यमान हैं। यद्यपि इनका दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है। आज भी हिंदी के ललित साहित्य में राजनीति तथा समाज की उपेक्षा हो रही है। नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक अग पर अब कुछ प्रकाश पड़ने लगा है; किंतु हमारे आधुनिक कवि तथा लेखक राजनीतिक सिद्धान्तों और समस्याओं की ओर न जाने क्यों आकृष्ट नहीं होते। इसलिये देश की वर्तमान परिस्थिति को ही हम दोषी ठहराकर उन्मुक्त नहीं हो सकते। किसी भी देश के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि देश की संस्कृति के विविध अंगों तथा समस्त प्रमुख समस्याओं पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाय।

हिन्दी साहित्य में आगे चलकर कौन विचार-धारा प्रधान रूप से प्रवाहित होगी, इसे निश्चित रूप से बतलाना अत्यन्त कठिन है; किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वर्तमान अवस्था में अवश्य परिवर्तन होगा। देश में प्राचीन

संस्कृति की नींव अभी गहरी है। अतएव नवीन नींव की हमें आवश्यकता नहीं। आज तो केवल इस बात की आवश्यकता है कि प्राचीन नींव पर ही हम नवीन सुदृढ़ भवन निर्माण करें।

छायावाद

[श्री जयशंकर 'प्रसाद']

कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया। रीतिकालीन प्रचलित परम्परा से—जिसमें बाह्य वर्णन की प्रधानता थी—इस ढग की कविताओं में भिन्न प्रकार के भावों की नये ढंग से अभिव्यक्ति हुई। नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे। आभ्यन्तर सूक्ष्म भावों की प्रेरणा बाह्य स्थूल आकार में भी कुछ विचित्रता उत्पन्न करती है। सूक्ष्म आभ्यन्तर भावों के व्यवहार में प्रचलित पदयोजना असफल रही। उनके लिये नवीन शैली, नया वाक्य-विन्यास आवश्यक था। हिन्दी में नवीन शब्दों की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द-विन्यास में ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया।

बाह्य उपाधि से हट कर आन्तर हेतु की ओर कवि-कर्म प्रेरित

हुआ। इस नये प्रकार की अभिव्यक्ति के लिये जिन शब्दों की योजना हुई, हिन्दी में वे कम समझे जाते थे; किन्तु शब्दों में भिन्न प्रयोग से एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करने की शक्ति है। समीप के शब्द भी उस शब्द विशेष का नवीन अर्थ द्योतन करने में सहायक होते हैं। भाषा के निर्माण में शब्दों के इस व्यवहार का बहुत हाथ होता है। अर्थ-बोध व्यवहार पर निर्भर करता है, शब्द-शास्त्र में पर्य्यायवाची तथा अनेकार्थवाची शब्द इसके प्रमाण हैं। इसी अर्थ चमत्कार का माहात्म्य है कि कवि की वाणी में अभिधा से विलक्षण अर्थ साहित्य में मान्य हुए।

अभिव्यक्ति का यह निराला ढंग अपना स्वतन्त्र लावण्य रखता है। मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कान्ति की तरलता अंग में लावण्य कही जाती है। इस लावण्य को संस्कृत-साहित्य में छाया और विच्छित्ति के द्वारा कुछ लोगों ने निरूपित किया था। शब्द और अर्थ की स्वाभाविक वक्रता विच्छित्ति, छाया और कान्ति सृजन करती है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। वैदग्ध्य भंगी भणिति में शब्द की वक्रता और अर्थ की वक्रता लोकोत्तीर्ण रूप से अवस्थित होती है। यह रम्यच्छायान्तरस्पर्शी वक्रता वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक में होती है।

कभी-कभी स्वानुभाव संवेदनीय वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए सर्वनामादिकों का सुन्दर प्रयोग इस छायामयी वक्रता का कारण होता है—'वे आँखें कुछ कहती हैं।' किंतु ध्वनिकार ने

इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया। यह ध्वनि प्रबन्ध, वाक्य, पद और वर्ण में दीप्त होती है। केवल अपनी भंगिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विचित्र तड़प उत्पन्न कर सकता है। कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुलभ श्री की वहिन ही है, घूँघट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिये अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।

'इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष-काल में अधिक महत्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक प्रयोगों की भी थी, किन्तु आन्तर अर्थ-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

'निरहंकार मृगाङ्क', 'पृथ्वी गतयौवना', संवेदन मिवाम्बर', मेघ के लिये 'जनपद वधु लोचनैः पीयमानः' या कामदेव के कुसुम शर के लिये 'विश्सनीयमायुधं' ये सब प्रयोग वाह्य सादृश्य से अधिक आन्तर सादृश्य को प्रकट करने वाले हैं। इस प्रकार की अभिव्यंजनाएँ वहुत मिलती हैं। इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है; तरलता है, वह विचित्र है। अलंकार भीतर आने पर भी ये उनसे कुछ अधिक हैं।

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके सही, परंतु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस ढंग को ग्रहण करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत के लिये अत्यन्त आवश्यक थे। काकु या श्लेष की तरह यह सीधी वक्रोक्ति भी न थी। वाह्य से हट कर काव्य की प्रवृत्ति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब('वहित विकलं कायोन मुञ्चति चेतनाम्')की विवशता वेदना को चैतन्य के साथ चिरबन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्म-स्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव के व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छायावाद किसी भाषा के लिये शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सांस्कृतिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है, उच्चत्तम साहित्य का स्वागत करने के लिये। हिन्दी के आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है। कुन्तक के शब्दों में 'अतिक्रान्त प्रसिद्ध व्यवहार सरणि' के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख पाते हैं। हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण तादात्मय नहीं कर पाया हो, वहाँ अभिव्यक्ति विशृंखल हो गई, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय से उसका स्पर्श न होकर मस्तिष्क से ही मेल हो गया हो; परंतु सिद्धान्त में ऐसा रूप छायावाद का ठीक नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया मात्र हो वास्तविकता का स्पर्श न हो, वही छायावाद है। हाँ, मूल में

यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा की छाया या प्रति-बिम्ब है; इसलिए प्रकृति काव्यगत व्यवहार में ले आकर छाया-वाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्य-धारा में होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भंगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्य-मय प्रकृति-विधान तथा उपचार-वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषताएँ हैं। अपने भीतर से मोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके भाव-समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

हिन्दी-उपन्यास

[श्री नगेन्द्र]

मैंने देखा कि एक वृहत् साहित्यिक समारोह लगा हुआ है। उसी समारोह के अन्तर्गत उपन्यास अंग को लेकर विशिष्ट गोष्ठी का आयोजन हुआ है जिसमें हिन्दी के लगभग सभी उपन्यास-कार उपस्थित हैं। पहले उपन्यास के स्वरूप और कर्तव्य-कर्म को लेकर चर्चा चली। कर्तव्य-कर्म के विषय में यहाँ तक तो सभी सहमत हो गये कि जो साहित्य का कर्तव्य कर्म है वही उपन्यास का भी, अर्थात् जीवन की व्याख्या करना। पहले श्रीयुत् देवकीनन्दन खत्री का इस विषय में मतभेद था, परन्तु जब व्याख्या के साथ आनन्दमयी विशेषण जोड़ दिया गया तो वे भी सहमत हो गए। स्वरूप पर काफी विवाद चला। अन्त में मेरे ही समवयस्क एक महाशय ने प्रस्ताव किया कि इस प्रकार तो समय भी बहुत नष्ट होगा और कुछ सिद्धि भी नहीं होगी। हिन्दी के सभी प्रतिनिधि उपन्यासकार उपस्थित हैं; अच्छा हो यदि वे एक-एक कर बहुत ही संक्षेप में उपन्यास के स्वरूप और अपने उपन्यास साहित्य के विषय

में अपना दृष्टि कोण प्रकट करते हुए चलें। उपन्यास के स्वरूप और हिन्दी के उपन्यास के विवेचन का इससे सुन्दर ढंग और क्या हो सकता है! प्रस्ताव काफी सुलझा हुआ था। फलतः सभी ने मुक्तकण्ठ से उसे स्वीकार कर लिया। विवेचन में एकता और एकाग्रता बनाए रखने के विचार से उन्हीं सज्जन ने तत्काल ही एक प्रश्नावली भी पेश कर दी जिसके आधार पर उपन्यासकारों से बोलने की प्रार्थना की जाय। उसमें केवल तीन प्रश्न थे :—

(१) आपके मत में उपन्यास का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

(२) आपने उपन्यास क्यों लिखे हैं ?

(३) अपने उद्देश्य में आपको कहाँ तक सिद्धि मिली है ?

यह प्रश्नावली भी तुरंत स्वीकृत हो गयी, और प्रस्तावकर्त्ता से ही कह दिया गया कि आप ही कृपा कर इस कार्यवाही को गति दे दीजिये। अस्तु !

सब से पहले उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द जी से शुरू किया जाता। लेकिन प्रेमचन्दजी ने सविनय एक ओर इशारा करते हुए कहा—नहीं नहीं मुझसे पहले मेरे पूर्ववर्ती बाबू देवकीनन्दन खत्री से प्रार्थना करनी चहिये। देवकीनन्दनजी हिन्दी के प्रथम मौलिक उपन्यासकार हैं। प्रेमचन्दजी के आग्रह पर एक सामान्य सा व्यक्ति, जिसकी आकृति मुझे स्पष्टतः याद नहीं, धीरे से खड़ा हुआ और कहने लगा—भाई, आज तुम्हारी दुनिया दूसरी है, तुम्हारे विचारों में दार्शनिकता और नवीनता की छाप

है। हम तो उपन्यास को कल्पित कथा समझते थे। इसके अतिरिक्त उसका कुछ और स्वरूप हो सकता है, वह तो हमारे ध्यान में भी नहीं आता था। मैंने स्वदेश-विदेश की विचित्र कथाएँ बड़े मनोयोग से पढ़ी थीं और उनको पढ़कर मेरे दिल में यह आया था कि मैं इसी प्रकार के अद्भुत कथानक लिखकर जनता का मनोरञ्जन कर यशलाभ करूँ। इसीलिये मैंने चंद्रकांता संतति लिख डाली। अद्भुत के प्रति बहुत अधिक आकर्षण होने के कारण मेरी कल्पना उत्तेजित होकर उस चित्रलोक की रचना कर सकी। आखिर लोगों के पास इतना समय था और जीवन की गति इतनी मंदी थी कि उन्हें आवश्यकता थी किसी ऐसे साधन की जो उसमें उत्तेजना भर सके। बस, वे साहित्य से उत्तेजना की माँग करते थे। इसके अतिरिक्त मनुष्य यह तो सदा अनुभव करता है कि यह जीवन और जगत् अनंत रहस्यों की भण्डार है, परन्तु साधारणतः कल्पना की आखें खुली न होने के कारण वह उनको देख नहीं पाता। उसका कौतूहल जैसे इससे तिलिस्म के द्वार से टकरा कर लौट आता है और उसे यह इच्छा रहती है कि ऐसा कुछ हो जो इस जादूघर को खोल सके। मेरे उपन्यास मनुष्य की ये दोनों माँग पूरी करते हैं—उनके मंद जीवन में उत्तेजना पैदा करते हैं और उसकी कौतूहल वृत्ति को तृप्त करते हैं। इसीलिए वे इतने लोकप्रिय रहे हैं—असंख्य पाठकों को उनसे जो वह चाहते थे मिला। इससे बढ़कर उनकी या मेरी सिद्धि और क्या हो सकती है? वे जीवन की

व्याख्या करते हैं या नहीं यह मैं नहीं जानता—मैंने कभी इसकी चिन्ता भी नहीं की—परन्तु मनोरञ्जन अवश्य करते हैं; मन की एक भूख को भोजन देते हैं, बस।

इसके उपरान्त मुंशी प्रेमचन्द बिना किसी तकल्लुफ के आप ही आप खड़े हो गये और निहायत ही सादगी और सचाई से कहने लगे—भाई, सवाल तुम्हारे कुछ मुश्किल हैं। उपन्यास के स्वरूप या अपने उपन्यास साहित्य का तात्विक विवेचन तो मैं आपके सामने शायद नहीं कर पाऊँगा, पर उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूँ—मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना ही उपन्यास का मूल तत्व है। मानव-चरित्र कोई स्वतः सम्पूर्ण तथ्य नहीं है, वह वातावरण-सापेक्ष्य है, इसलिए उस पर वातावरण की सापेक्षता में ही प्रकाश डाला जा सकता है। आज का उपन्यासकार आज के वातावरण अर्थात् आज की राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं की व्याख्या करता हुआ ही मानव-चरित्र की व्याख्या कर सकता है। लेकिन व्याख्या शब्द को जरा और साफ करना होगा। व्याख्या से मेरा मतलब सिर्फ स्वरूप कार्य-कारण वगैरह का विश्लेषण कर उसके भिन्न-भिन्न तत्वों को अलग-अलग सामने रख देना नहीं है। वह तो वैज्ञानिक का ही काम है—और दरअसल सच्चे वैज्ञानिक का भी नहीं, क्योंकि वह भी उस विश्लेषण में से कोई जीवनोपयोगी तथ्य निकाल कर ही संतुष्ट होता है। उपन्यासकार की व्याख्या इससे बहुत अधिक है—वह तो निर्माण की अनुवर्तिका है।

मेरा जीवन-दर्शन वैज्ञानिक नहीं है, शुद्ध उपयोगितावादी है। यानी मैं जानता हूँ कि उपन्यासकार का कर्त्तव्य है कि वह परिस्थितियों के बीच में रखकर मानव-चरित्र का विश्लेषण कर यह समझ ले कि कहाँ क्या गड़बड़ है, और फिर क्रमशः उस अवस्था तक ले जाय जहाँ वह गड़बड़, वह सारी असंगति मिट जाय जो मानव-चरित्र का आदर्श रूप हो। यहाँ मैं स्वप्नलोक या स्वर्गलोक की सृष्टि की बात नहीं करता--वहाँ तो वास्तव का आँचल ही आपके हाथ से छूट जाता है। आज की भौतिक वास्तविकताओं में घिरे हुये मानव-चरित्र का निर्माण इस प्रकार नहीं होगा। परिस्थिति के अनुकूल उसका एक ही मार्ग है और वह है आज के यथार्थ में से ही आदर्श के तत्त्वों को ढूँढकर उसका निर्माण करना। मैं इसी भावना से प्रेरित होकर उपन्यास लिखता हूँ। मेरे उपन्यास कहाँ तक आज के मानव को आत्म-परिष्कार के प्रति, यानी परिस्थितियों के प्रकाश में अपनी खामियों को समझ कर उनको दूर करने के लिये जागरूक कर सके हैं, यह मैं नहीं जानता। पर मेरी सिद्धि इसी के अनुपात से माननी चाहिये। मेरा उद्देश्य केवल मनोरंजन करना नहीं है—वह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का···। सहसा बाबू देवकीनन्दन खत्री की ओर देखकर एकदम शर्म से लाल होकर फिर ठहाका मार कर हँसते हुये—आशा है आप मेरा मतलब गलत नहीं समझ रहे हैं।

प्रेमचंद जी के बाद कौशिक जी खड़े हुए। मुझे अच्छी तरह

याद नहीं उन्होंने क्या कहा, पर शायद उन्होंने प्रेमचंद जी की ही बात को दुहराया।

अब प्रसाद जी से प्रार्थना की गयी। पहले तो वे राजी नहीं हुए। परंतु जब लोगों ने विशेष अनुरोध किया तो वे अत्यन्त शांत-संयत मुद्रा में खड़े हुये और कहने लगे—हिंदी के आलोचकों ने मेरी कविता और नाटकों को रोमांटिक आदर्शवाद की कक्षा में रक्खा है, और मेरे उपन्यासों को यथार्थवाद की कक्षा में। मैं नहीं कह सकता कि मूलत: मेरे साहित्य के बीच कोई ऐसी विभाजक-रेखा खींची जा सकती है। फिर भी यह सत्य है कि मुझे कविता नाटक की अपेक्षा उपन्यास में यथार्थ को आँकना सरल प्रतीत होता है। कारण केवल यही है कि वह अपेक्षाकृत सीधा माध्यम है। आज धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषमताओं के कारण जीवन में जो गहरी गुत्थियाँ पड़ गयी हैं; उनसे मैं निरपेक्ष होकर पलायन नहीं कर सकता—आह, यदि यह सम्भव होता! परंतु प्रेमचंदजी की तरह सामूहिक वहिर्मुखी प्रयत्नों में मुझे उनका समाधान सरलता से नहीं मिलता। जिन संस्थाओं पर समाज बालक की तरह आश्रय के लिये झुकता है वे अंदर से कितनी कच्ची और घुनी हुई हैं। प्रवृत्ति के एक धक्के को भी सँभालने का उनमें बल है? मुझे विश्वास ही नहीं हो सकता कि संस्थाओं का यह नया व्यसन जीवन का किसी प्रकार भी गतिरोध कर सकेगा। ऐसा क्या है जिसके नाम पर प्रवृत्ति को झुठलाया जाय? और प्रवृत्ति भी

क्या सत्य है? यही आज के जीवन का दर्शन है—और मैं इसको पूरी चेतना के साथ अनुभव कर रहा हूँ। यह आपको मेरे सम्पूर्ण साहित्य में मिलेगा—उपन्यास में प्रतीकों के अधिक परिचित होने के कारण यह शायद अधिक मुखर हो गया है।

इसके बाद बाबू वृन्दावनलाल वर्मा के नाम से एक सज्जन जिनके मूर्धन्य पर शोभित फैल्टकेप उनके परम्परा-प्रेम की दुहाई दे रही थी, उठ खड़े हुये और बोले--भई, उपन्यास को मैं उपन्यास ही समझता हूं, और बुन्देलखण्ड के ये ही नदियां-नाले या नदी-नाले, झीलें और पर्वत-वेष्टित शस्य-श्यामल खेत मेरी प्रेरणा के प्रधान कारण हैं! इसलिए मुझको हिस्टौरिकल रोमांस पसंद है। अन्य कारण जानकर क्या करियेगा! इसी रोमांटिक वातारण में बाल्यकाल से ही अपनी आँखों से चारों ओर एक वीर जाति के जीवन का खण्डहर देखता आया हूँ--और अपने कानों से उसकी विस्मय गाथाएँ सुनता रहा हूँ। अतएव स्वभाव से ही मैं आप-से-आप कल्पना के द्वारा उन दोनों को जोड़ने लगा। वे कहानियाँ इन खण्डहरों में जीवन का स्पंद भरने लगीं, और ये खण्डहर उन कहानियों में जीवन की वास्तविकता। मैं उपन्यास लिखने लगा। मेरे उपन्यास यदि उस गौरव-इतिहास को आपके मन में जमा पाते हैं तो वे सफल ही हैं।

जिस समय ये लोग भाषण दे रहे थे एक हृष्ट-पुष्ट आदमी, जिसके लम्बे-लम्बे बाल अधनंगा शरीर एक अजीब फक्कड़पन

का परिचय दे रहे थे, बीच-बीच में काफी चुनौती-भरे स्वर में फिकरे कसकर लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहा था। पूछने पर मालूम हुआ कि आप हिन्दी के निद्वन्द्व कलाकार 'उग्र' जी हैं। वृन्दावनलाल जी का भाषण समाप्त होने पर लोग उनसे प्रार्थना करने ही वाले थे कि आप खुद ही उठ खड़े हुए और बोले—ये लोग तो सभी मुर्दा हो गए हैं। जिसमें जोश ही नहीं रहा वह क्या उपन्यास लिखेगा ? और जोश सुधार, आत्म-परिष्कार के नाम पर अपने को और दूसरों को धोखा देने वाले लोगों में कहाँ ? जोश आता है, नीति की चहारदीवारी को तोड़कर विधि-निषेधों का जी भर कर मजा लेने से। जोश आता है, जिसे ये लोग तामस और पाप कहकर दूर भागते हैं, उसका मुक्त उपभोग करने से; जब कि मनुष्य की सच्ची वृत्तियाँ दमन की शृङ्खलाएँ तोड़कर स्वच्छन्द होकर जीवन का मांसल अनुभव करती हैं। आज यह जोश मैं--मेरे ही उपन्यास—दे सकते हैं, जिनके आत्म-रूप नायक अवसर आते ही नपुंसक बन जाते हैं उनसे इसकी क्या आशा की जा सकती है ? यह कह उन्होंने अपने व्यंग्य को और अधिक स्थूल बनाते हुए जैनेन्द्रजी की ओर देखकर हँस दिया।

जैनेन्द्रजी पर चोट का असर तो तुरन्त ही हुआ, पर उन्होंने अपने को हतप्रभ नहीं होने दिया। हाथ को घुमाकर नर्म की चादर को सँभाला और एक खास सादगी के अन्दाज से आँखों को मटराते हुए ऊपर के होठ से नीचे से होठ को लपेट कर

बोले—अरे भाई, उग्रजी के जोश में उबाल लाने वाली चीज हमें कहाँ प्राप्त है—और फिर एक नजर यह देखकर कि उनके इस हाजिर जवाब का प्रेमचंद्रजी और सियारामशरणजी पर क्या असर पड़ा है, कहने लगे—कुछ ऐसा लगता है कि उपन्यास जैसे आज परिभाषा की मर्यादा तोड़कर विशृङ्खल हो गया है। उसका स्वरूप जैसे कुछ नहीं है और सब कुछ है। यह कोई भी स्वरूप धारण कर सकता है। आज के जीवन की तरह वह जैसे एक दम अनिश्चित होकर दिशा खो बैठा है। इसीलिए आज के जीवन की अभिव्यक्ति का सच्चा माध्यम उपन्यास ही है। मैं उपन्यास क्यों लिखता हूँ यह मैं क्या जानूँ? मेरे उपन्यास जैसे हैं वैसे हैं ही—वे बड़े बेचारे हैं। परंतु मुझे मालूम पड़ता है कि मेरे मन में कुछ है जो बाहर आना चाहता है—और उसको कहने के लिये मैं उपन्यास या कहानी या लेख जब जैसी सुविधा होती है लिख बैठता हूँ। आप पूछेंगे कि यह क्या है जो बाहर आना चाहता है। यह है जीवन की अखण्डता की भावना। मुझे अनुभव होता है कि यह जीवन और जगत जैसे मूलतः एक अखण्ड तत्व है-आज इसकी यह अखण्डता खण्डित हुई-सी लगती है—लगती ही है, दरअसल है नहीं। आज का मानव इसी भ्रम में पड़कर भटक रहा है—उसके हाथ से जीवन की कुँजी खो गयी है, और यह कुँजी है यही अखंडता की भावना। मैं चाहता हूँ कि वह इसे ढूँढ़ निकाले, नहीं तो निस्तार नहीं है और उसे ढूँढ़ने का साधन है केवल एक प्रेम या

अहिंसा। प्रेम या अहिंसा का अर्थ है दूसरे के लिये अपने को पीड़ा देना—पीड़ा में ही परमात्मा वसता है। मेरे उपन्यास आत्म-पीड़न के ही साधन हैं, और इसीलिए मैंने उनमें काम-वृत्ति की प्रधानता रखा है क्योंकि काम की यातनाओं में ही आत्म-पीड़न का तीव्रतम रूप है। वे पाठक को जितनी आत्म-पीड़न की प्रेरणा देते हैं, जितना उसके हृदय में प्रेम पैदा कर जीवन की अखण्डता का अनुभव कराते हैं उतने ही सफल कहे जा सकते हैं। इतना कहते हुए वड़े ही आहिस्ता से जैसे ऐसा करने में भी किसी प्रकार की हिंसा का डर है, वे बैठ गये।

इसके बाद सियारामशरणजी से प्रार्थना की गई कि वे अपना मन्तव्य प्रकट करें। परन्तु उन्होंने बड़े ही दैन्य से कहा—हम क्या कहेंगे, अभी जैनेन्द्र भाई ने जैसा कहा है हमारा भी वैसा ही मत है।

तब पं० भगवती प्रसाद वाजपेई का नम्बर आया। अपने गोलाकार मुख-मण्डल को थोड़ा और गोल करते हुये वे वोले—उपन्यास-सम्राट् श्रीयुत प्रेमचन्द्रजी, और साथियो! मेरे भाई जैनेन्द्रजी ने जो कहा अभी तक मेरा भी वहुत कुछ वही मत था। परन्तु आज मैं स्पष्ट देख रहा हूँ—और यह कहते ही अञ्चल जी की ओर देखकर वे अत्यन्त गम्भीर हो गये; जैसे जो कुछ कहने जा रहे हैं वह उन्हें अञ्चलजी के मुख पर साफ नजर आ रहा है—कि आज के मानव की मुक्ति पीड़ा में नहीं है, जीवन की आर्थिक विषमताओं को दूर करने में है। आज

मुझे शरत् या गाँधी नहीं बनना, शोलोखव और स्टालिन बनना है।

अब वात्स्यायन जी अपना दृष्टिकोण प्रकाशित करें—माँग हुई। वात्स्यायन जी ने अपना वक्तव्य आरम्भ कर दिया। परन्तु मैं चूँकि थोड़ा दूर बैठा था मुझे सिर्फ उनके होंठ ही हिलते दिखाई देते थे, सुनाई कुछ नहीं पड़ता था। उग्र जी ने एकबार उनको ललकारा भी—अरे सरकार, जरा दम से बोलिए, आखिर आप स्वागत-भाषण तो कर नहीं रहे। मजलिस में बोल रहे हैं। वात्स्यायन जी पर जैसे उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वे उसी स्वर में बोलते रहे। हार कर मुझे ही उनके पास जाना पड़ा। कह रहे थे........यों कहिये कि आपके सामने मेरा एक ही उपन्यास है। उसमें जैसा मैंने प्रवेश में कहा है मेरा दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक रहा है। एक व्यक्ति का पूरी ईमानदारी से, अपने राग-द्वेष को सर्वथा पृथक् रख कर वस्तुगत चित्रण करना और तज्जन्य बौद्धिक आनन्द को स्वयं ग्रहण करना तथा पाठक को ग्रहण कराना मेरा उद्देश्य रहा है। किसी व्यक्ति का, विशेषकर उसी व्यक्ति का जो अपनी ही सृष्टि हो, चरित्र-विश्लेषण करने में अपने राग-द्वेषों को अलग रखते हुए पूरी ईमानदारी बरतना स्वयं अपने में एक बड़ी सफलता है। आप शायद यह कहेंगे कि यह व्यक्ति मेरी सृष्टि ही नहीं मैं स्वयं हूँ और वह विश्लेषण अपने ही व्यक्ति-विकास का विश्लेषणात्मक सिंहावलोकन है। तब तो ईमानदारी और वस्तुगत चित्रण का महत्व और भी कई गुना

हो जाता है। क्योंकि अपने को पीड़ा देना तो आसान है; पर राग-द्वेष विहीन होकर अपनी परीक्षा करने में असाधारण मानसिक शिक्षण और संतुलन की आवश्यकता होती है, इससे प्राप्त आनन्द राग-द्वेष में वहने के आनन्द से कहीं भव्यतर है। मैंने इसी को पाने और देने का प्रयत्न किया है। शेखर को पढ़कर आप जितना ही आनन्द को प्राप्त कर पाते हैं उतनी ही मेरी सफलता है।

इतने ही में इलाचन्द्र जी स्वतः प्रेरित से बोल उठे-वात्स्यायन जी की बौद्धिक निरुद्देश्यता का यह आनन्द कुछ मेरी समझ में नहीं आया। मैं उनके मनो-विश्लेषण की सूक्ष्मता और सत्यता का कायल हूँ परंतु व्यक्ति का विश्लेषण करके उसको एक समस्या बना कर ही छोड़ देना तो मनो-विश्लेषण का दुरुपयोग है। स्वयं फ्रॉयड ने भी मनो-विश्लेषण को साधना ही माना है साध्य नहीं। चरित्र में पड़ी हुई ग्रंथियों को सुलझा कर वह हमें मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति की, फिर समाज की विषमताओं का समाधान करता है। यही आनंद सच्चा है—स्वस्थ आनन्द है।

अब लोग थकने लगे थे। मुझे भी मन को एकाग्र रखने में कुछ कठिनाई-सी मालूम पड़ रही थी—शायद मेरी नींद की गहराई कम हो रही थी। इसलिए मुझे सचमुच बड़ा सन्तोष हुआ जब प्रश्नकर्त्ता महोदय न उठकर कहा कि अब देर काफी हो गई है, इतना समय नहीं है कि आज के सभी उदीयमान

औपन्यासिकों के अपने-अपने मन्तव्यों को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो सके। अतएव अब केवल यशपाल जी ही अपने विचार प्रकट करने कष्ट करें।

यशपाल जी बोले—वात्स्यायन जी की बौद्धिकता को तो मैं मानता हूं, परन्तु उनके इस तटस्थ या वैज्ञानिक आनन्द की बात मेरी समझ में नहीं आती। वास्तव में यह वैज्ञानिक आनंद और कुछ नहीं शुद्ध आत्मरति-मात्र है। वात्स्यायन जी घोर व्यक्तिवादी कलाकार हैं—उन्होंने जीवन और जगत को अपनी सापेक्षता में देखा और अंकित किया है—जैसे सभी कुछ उनके अहं के चारों ओर चक्कर काट रहा है। मेरा दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत है। अपनी शक्तियों को अपनी व्यष्टि में ही केन्द्रीभूत कर लेना या अपनी व्यष्टि का सम्पूर्ण विश्व की धुरी मान लेना जीवन का बिल्कुल गलत अर्थ समझना है। आत्मरति एक भयङ्कर रोग है। उससे जीवन में विषमयी ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं। जीवन का समाधान तो इसी में है कि व्यष्टि के घोंघे से निकलकर समष्टि की धूप में विचरण किया जाय। व्यक्ति में उलझे रहने से जीवन की समस्यायें और उलझ जायेंगी। उसके लिए सामाजिकता अनिवार्य है। व्यक्तियों पर ध्यान केन्द्रित कर उनको अनिवार्य महत्व देना मूर्खता है—सामूहिक चेतना जाग्रत कीजिये—गण-शक्ति का अर्जन कीजिये। परन्तु इसके साथ ही जैनेन्द्रजी के आत्म निषेध को भी मैं नहीं मानता। जो है उसका

निषेध करना बेईमानी है और न कोई आत्म-निषेध करता है। आत्म-निषेध की सब से अधिक बात करने वाले गाँधी जी ही सबसे बड़े आत्मार्थी हैं। अध्यात्मवाद, वैज्ञानिक तटस्थता आदि व्यक्तिवाद के ही विभिन्न नाम हैं। आज हमें आवश्यकता इस बात की है कि इस भ्रम-जाल से निकल कर जीवन को भौतिकता और सामाजिकता को स्वीकार करें। मेरे साहित्य का यही उद्देश्य है।

गोष्ठी की कार्यवाही अब समाप्त हो चुकी थी। अन्त में प्रश्नकर्त्ता महोदय ने वक्ताओं को धन्यवाद देते हुए निवेदन किया—अभी आप के सामने हिन्दी के कुछ प्रतिनिधि उपन्यास-कारों ने अपने-अपने दृष्टि-कोणों की सुन्दर विवेचना की है। हिन्दी उपन्यास के लिये वस्तुतः यह गौरव का दिन है जब कि हमारे आदि उपन्यासकार से लेकर नवीनतम उपन्यासकार तक—बाबू देवकीनन्दन खत्री से लेकर यशपाल तक—सभी एक स्थान पर मौजूद हैं (यद्यपि ऐसा कैसे सम्भव हो सका यह सोचकर वक्ता महोदय को बड़ा आश्चर्य हो रहा था) और उन्होंने स्वयं ही अपने दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण किया है। आपने देखा कि किस तरह इनका दृष्टिकोण क्रमशः बदलता गया है। किस तरह सामन्तीय से वह भौतिक बौद्धिक हो गया है। देवकीनन्दन खत्री और यशपाल हमारे उपन्यास-साहित्य के दो छोर हैं। देवकीनन्दनजी का दृष्टिकोण—उनके औपन्यासिक मान—शुद्ध सामन्तीय हैं। साहित्य या उपन्यास उनके लिये

एक जीवित शक्ति नहीं है, वह उनके मनोरञ्जन के उपभोग का एक उपकरण मात्र है। उनके जीवन की व्याख्या और आलोचना एक चैतन्य प्रभाव नहीं है। उपभोग-जर्जर जीवन में झूठी, उत्तेजना लाने वाली एक खुराक है, शारीरिक उत्तेजना के लिये जिस प्रकार लोग कुश्ते खाते थे, मानसिक उत्तेजना के लिये इसी प्रकार वे 'तिलिस्म होशरुबा' या 'चन्द्रकान्ता सन्तति' पढ़ते थे। इस तरह से उस समय के जीवन के लिये चन्द्रकान्ता उपन्यास एक महत्वपूर्णप्रभाव था, और कम-से-कम उसकी अनन्त-विहारिणी कल्पना का लोहा तो सभी को मानना होगा। वह मन को इस बुरी तरह जकड़ लेती है यही उसकी शक्ति का असंदिग्ध प्रमाण है। भारतीय जीवन की गति के अनुसार प्रेमचन्द तक आते-आते यह दृष्टिकोण बदलकर विवेक और नीति का दृष्टिकोण हो जाता है। उसके लिये उपन्यास सामाजिक जीवन का निर्माण करनेवाला एक चेतन-प्रभाव है, उपयोगिता और सुधार उसके दो ठोस उद्देश्य हैं, और नीति और विवेक दो साधन। जीवन से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। निदान उनका उपन्यास मानव की ऊपरी सतह को छूकर नहीं रह जाता, वह उसके भीतर प्रवेश करता है। परन्तु चूँकि उसकी दृष्टि वहिर्मुखी है, सामाजिक जीवन पर ही केन्द्रित रहती है, इसलिये उसकी भी तो पैठ सीमित माननी ही पड़ेगी। नीति और विवेक के प्राधान्य के कारण प्रेमचन्द का उपन्यास प्राण चेतना के आर-पार नहीं देख पाता--विवेक को इसकी आवश्यकता ही नहीं

पड़ेगी। उसकी विवेक की आँखें बीच में ही रुक जाती हैं, जीवन के अतल को स्पर्श नहीं कर पाती। इसीलिए तो प्रेमचंद्रजी की दृष्टि की व्यापकता, उदारता और स्वास्थ्य का कायल होकर भी मुझे उनमें और शरत् या रविबाबू में बहुत अंतर लगता है। प्रेमचंद्रजी की इस बहिर्मुख सामाजिकता को उसी समय प्रसाद वृन्दावनलाल वर्मा और उग्र ने चेलेञ्ज किया—प्रसाद ने निर्मम होकर सामाजिक संस्थाओं का गर्हित खोखलापन दिखाया, वृन्दावनलाल ने वर्तमान के इतिवृत्त को छोड़ अतीत के विस्मय-गौरव की ओर संकेत किया, उग्र ने उसी उथली नैतिकता को चुनौती दी। परंतु गाँधीवाद के व्यवहार-पक्ष का लोक-रुचि पर उस समय इतना अधिक प्रभाव था कि प्रेमचंद्र का गतिरोध करना असंभव हो गया। उस समय लोगों की दृष्टि गांधी-वाद के व्यवहार-पक्ष तक ही सीमित थी; उसके अध्यात्म तक नहीं पहुँच पायी थी। जीवन के इस तल तक पहुँचने का प्रयत्न जैनेंद्र जी ने किया है। विवेक और नीति से आगे अध्यात्म की ओर बढ़ने का उनका और सियारामशरण जी को आरम्भ से ही आग्रह रहा है। उनकी पीड़ा की फिलासफी में गाँधीवाद का अध्यात्म-पक्ष ही तो है। दृष्टिकोण की दो तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ हमें भगवती बाबू की चित्रलेखा और अज्ञेय के शेखर में मिलती हैं। भगवती बाबू आस्तिक वृत्तिवादी हैं। पीड़ा में उनका विश्वास नहीं। उनकी आस्था स्वस्थ उपभोग में है – अहं के निषेध में नहीं, अहं के परितोष में है। अज्ञेय का दृष्टिकोण शुद्ध वैज्ञानिक और

बौद्धिक है। ये नास्तिक बुद्धिवादी हैं। उनके इसी दृष्टिकोण की दृढ़ता और स्थिरता के कारण वास्तव में शेखर हिंदी की एक अभूतपूर्व वस्तु बन गयी। बुद्धि की इस दृढ़ता के साथ में काश अज्ञेय के पास आस्तिकता का समर्पण-भाव भी होता ? यशपाल में यह प्रतिक्रिया एक पग और बढ़ जाती है। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक न रह कर भौतिक-वादी हो जाता है। अज्ञेय की बौद्धिकता उनमें भी है, परंतु वैज्ञानिक आत्म-लीनता उनमें नहीं है—ये अपने बाहर जाते हैं: इनमें भौतिकवादी सामाजिकता......।

ऊबे हुये लोगों में से इतने में ही एक आवाज आई—आपने क्या खूब संश्लेषण किया है ! और मैंने आँखें मलते हुए देखा कि काफी दिन चढ़ आया है और श्रीमती जी पूछ रही हैं—छुट्टी है क्या आज ?

—:-०-:—

हीर-कण

[श्री राय कृष्णदास]

१

आनन्द गीत

मेरे गीत आनन्द-सौरभ से बसे हुए हैं।

तुम्हारे पाद-पल्लव के स्पर्श से मेरा मन अशोक लदबदा कर फूल उठता है और उसके बोझ से नत होकर आनन्दमोद बग-राने लगता है। वह आमोद, जिससे मैं, स्वयं मत्त हो जाता हूँ।

तुम्हारा नख-चन्द्र देखकर मेरा मानस रत्नाकर हो जाता है और अखण्ड आनन्द के गीत गाने लगता है। और तुम्हारी कृपा का क्या कहना! तुम उस पर पीयूषवर्षण करके उसे अमृतमय बना देते हो।

मित्र, भला जब तुम अपने करों से मेरे हृत्कमल को खोलते हो तब वह कैसे बन खिला कर आनन्द-मकरन्द बहावें और सारे सर को उसमें मग्न कर दे।

खने लगा। मुझे उसमें प्रतिक्षण नवीनता मिलने लगी। इधर मेरे हाथ तुम्हारे पाँव पलोटने लगे।

अकस्मात् प्रचण्ड पवन चलता है। कुटी हिलने लगती है। घनघोर घटा घिरकर बरसने लगती है। विद्युत्पात होने लगते हैं। प्रलयकाल उपस्थित होता है। पर मैं अशांत, विचलित या भीत नहीं होता हूँ। क्योंकि तुम तो मेरे पास हो।

४

आनन्द की खोज

आनन्द की खोज में मैं कहाँ कहाँ न फिरा ? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुये निराश लौटना पड़ा जैसे चन्द्र की ओर चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह-रहकर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूं, क्या मैं जगत के बाहर हूँ।

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कंद मूलक इस विश्व-वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले! हा! आनंद के बदले में रुदन और सोच को परिपोषित कर रहा था।

अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा—आनंद, आनंद, कहाँ है आनंद! हाय! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन

गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किंतु मेरी आंतरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा—क्या कभी अपने आप में भी देखा था?

मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने—उसी विश्व के एक अंश—अपने आप तक में न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली। जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे।

परन्तु यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली; जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से न मिली थी वह अपने आप में मिली।

५

काम बन्द करने का समय

दिन बीता, सन्ध्या आ गई। प्रकृति ने आकाश पर जो कुंकुम चलाया था वह उसके भाल पर गुलाल फैलाकर जाने कहाँ अदृश्य हो गया और अब वह, प्रकृति, उस पर चारों ओर बुक्का छींट रही है। यह काम बंद करने का समय है।

भू-मण्डल पर प्रकाश की परिधि प्रतिक्षण सङ्कीर्ण होती जा रही है और अन्धकार की धुन्धली छाया उदासी बढ़ा रही है।

दिन भर का श्रान्त पक्षि-मण्डल अपने नीड़ों को लौट रहा है। क्या यह काम बंद करने का समय नहीं है ?

पर यह हो कैसे सकता है। क्या इस निरन्तर कर्मशीला प्रकृति में कोई भी किसी क्षण अकर्मण्य रह सकता है ?

वह लो, मेरा मित्र आ रहा है। अन्धकार में से उसकी दीप्त देह निकली पड़ती है। बस, मैं अब यही काम करूँगा कि अपनी दिन भर की करनी पर उसके संग विचार करूँ।

—:०:—

हिन्दी-कविता में पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी

[श्री शिवदान सिंह चौहान]

पेड़, पौधे, फूल, पशु-पक्षी संसार की हर भाषा की कविता में मिलते हैं और अक्सर स्वतन्त्र रूप से वर्णन के विषय भी बने हैं। यह सब प्रकृति के ऐसे अंग हैं जिनसे मनुष्य का साहचर्य बहुत पुराना है। प्रकृति के जड़ और चेतन दोनों अंगों से मनुष्य का संघर्ष आदि काल से चला आ रहा है। इस संघर्ष के दौरान में मनुष्य ने प्रकृति के अनेक अगूढ़ रहस्यों को खोल कर, उसके नियमों को जानकर, उसके अनेक अंगों को विजितकर प्रकृति पर अपना काबू ही नहीं बढ़ाया है बल्कि उसको अपने सामाजिक जीवन को उन्नत, समृद्ध और संश्लिष्ट बनाने में सहायक या साधन भी बनाया है। मनुष्य के पेचीदा और व्यापक सामाजिक जीवन की जरूरतें भी लम्बी-चौड़ी होती हैं। शुरू-शुरू में समाज की जरूरतें थोड़ी थीं, उस समय भी मनुष्य ने जहाँ एक ओर अपने रहने-बसने के लिये जंगल काटे मैदान साफ कर खेत बोये, वहाँ दूसरी ओर पशुओं को कब्जे में कर पालतू भी बनाया, ताकि वे मनुष्य के श्रम का कुछ भार उठा सकें।

यह काम प्रकृति के साथ मनुष्य के संघर्ष के अन्तर्गत ही आता है। जब तक प्रकृति के छोटे-मोटे रहस्य भी उसके लिए अज्ञेय थे और अपने चारों ओर के वातावरण पर उसका अधिकार कमजोर था, तब तक वह पेड़, पौधे, फूल, पशु पक्षी की गति-विधि से भी भय खाता था और उनके प्रति श्रद्धालु था। इसी कारण प्रारम्भिक कविता में वृक्षों, वनों, पर्वतों और समुद्रों को उर्वरता और उत्पादन के देवताओं का निवास-स्थान, अनेक पशु-पक्षियों को उनका वाहन दिखाया गया है। इन देव-ताओं को रुष्ट न करने के लिये उनके निवास-स्थानों और वाहनों के प्रति भी श्रद्धा और भय का भाव दिखाया गया है। लेकिन ज्यों-ज्यों सामाजिक जीवन का विकास होता गया और मनुष्य का सामाजिक ज्ञान बढ़ता गया त्यों-त्यों प्रकृति के इन अंगों के प्रति श्रद्धामूलक भावना भी कम होती गयी और स्थान पर सामाजिक जीवन को तरोताजा, समृद्ध और खुशहाल बनाने में सहायता देने वाले प्रकृति के इन अगों के प्रति मनुष्य में एक दूसरे ही भाव का उदय हुआ। उन्हें अपने सहचर और साथी के रूप में ग्रहण करने लगा और उनके साथ अपना मानवी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता गया। इसी कारण मनुष्य को उनमें सौन्दर्य से दर्शन होते आये हैं, क्योंकि सौन्दर्य की भावना का जन्म मनुष्य और प्रकृति के संघर्ष से पैदा हुए समाज-सम्बन्ध और सामाजिक क्रियाशीलता की चेतना से होता है, और मनुष्य ने संघर्ष में अनेक पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षियों की सहायता

लेकर उन्हें अपने समाज-सम्बन्धों का अंग बना लिया है, और अब मनुष्य के चौबीस घंटे के जीवन का वातावरण इनके बिना सोचा भी नहीं जा सकता।

यहाँ एक बात विचारणीय है। किसी भाषा की कविता किसी उस देश में ही होता है जहाँ पर उस भाषा के बोलने वाले रहते हैं। और उस देश की भौगोलिक स्थिति के कारण पेड़, पौधे; फूल, पशु पक्षी वहाँ पाये जाते हैं उन्हीं का वर्णन वहाँ की कविता में मिलता है। इस तरह अलग-अलग देशों में कुछ विशेष पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल वहाँ की विशेषता बन जाते हैं, क्योंकि उनके निवासियों का उनके साथ नित्यप्रति का साहचर्य रहता है। भारत वनस्पति और पशु-पक्षियों का आलय है, इस लिए यहाँ की कविता में अनेक पेड़-पौधों और पशु पक्षियों का वर्णन मिलता है। फारसी की कविता को यदि अपनी बुलबुल पर नाज है और अंग्रेजी को अपनी नाइटिंगेल, कक् और लार्क पर तो हिन्दी कविता की शुक, सारिका और कोकिला का कम गौरव नहीं है।

हिन्दी भाषा आदि-भाषा नहीं है। वह संस्कृत-प्रभावित शौरसेनी प्राकृत और अपभ्रंश से पैदा हुई है, और संस्कृत यहाँ के आर्यों की भाषा उस समय से रही है जब समाज का विकास अपने प्रारम्भिक काल में था। अतः संस्कृत की अनेक परम्पराएँ हिन्दी का प्रारम्भिक और मध्यकालीन कविता में ज्यों की त्यों

ग्रहण की गयीं। और कुछ का प्रभाव तो आधुनिक कविता में भी मौजूद है।

संस्कृत के कवियों ने प्रकृति का विविध रूप से वर्णन किया है। संस्कृत के अनेक कवि प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। वनों और उपवनों में रहकर वे प्रकृति की छटा देखकर तल्लीन होते थे, इसलिये उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन किया है उसमें सूक्ष्म-निरीक्षण है। इस वर्णन में उन्होंने अपने अनुभव से देखे अनेक पशु, पक्षियों और फूलों का वर्णन किया है। लेकिन जब भारतीय सामन्ती समाज स्थायित्व पा गया और नियम और कानूनों से समाज की हर गति-विधि को बाँधा गया तो पेड़, पौधे, फूल पशु, पक्षी, जिनका वर्णन पहले के कवि स्वतन्त्र रूप से कर चुके थे, उनका उन्होंने नाम गिना-गिनाकर शृंगार के उद्दीपन की श्रेणी में रख दिया और बाकी अलङ्कार मात्र बना दिये। इससे वर्णन की परम्पराएँ बन गयीं जब हिन्दी-कविता का जन्म हुआ तब उसमें भी रीति-ग्रन्थों की शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल ही पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों का प्रयोग होने लगा। अपने अनुभव से जानकर वर्णन करना हिन्दी के कवियों ने जरूरी न समझा दृश्यों का स्वतन्त्र चित्रण होना तो बिल्कुल ही बन्द हो गया। यहाँ तक कि हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में भी वातावरण के चित्रण करने की जहाँ जरूरत पड़ी है वहाँ नाम गिनाकर ही काम चलाया गया है। अन्यथा संयोग या वियोग शृङ्गार के रूप में उनका प्रयोग हुआ है। जायसी के 'पद्मावत' में कई स्थलों पर प्रकृति का वस्तु-वर्णन बड़ा

भावपूर्ण हुआ है, लेकिन उन्होंने भी परम्पराओं का पालन करते हुए पेड़, पशु, पक्षियों के नाम गिनाये हैं और उनसे उद्दीपन का काम लिया है। उन्होंने पद्मावत में इतने फल-फूलों, पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों का उल्लेख किया है कि उनका गिनना काफी-मुश्किल-काम है। तुलसीदासजी ने भी परम्परा का पालन किया है, लेकिन वे प्रकृति-चित्रण को एक आध्यात्मिक या नैतिक पुट दे देते थे। इसके अतिरिक्त जहाँ उन्होंने वातावरण का वर्णन किया है वहाँ उन्होंने पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों के अंदर भी गुण की अवस्थिति की है कि वह राम या उनके भक्तों के कार्य-व्यापारों के प्रति सहानुभूति रखते थे। जब राम वन को जाने लगे तो अयोध्या के हाथी, घोड़े, हिरन, पशु, पपीहा, मोर, कोयल, तोता, मैना, सारस, चकोर आदि जीव, लताएँ और पेड़ वियोग में विकल होकर चित्र की भाँति खड़े रह गये। पम्पा सरोवर का वसंत और किष्किंधाकांड के वर्षा और शरद् ऋतु के वर्णनों में उन्होंने उपमा द्वारा साधर्म्य स्थापित करते हुए कुछ नैतिक और धार्मिक विचारों का ही पिष्टपेषण किया है, प्रकृति का स्वतंत्र वर्णन नहीं। इसी तरह उन्होंने सुन्दरता के प्रतीक उपमानों का भी मुक्त रूप से प्रयोग किया है।

लेकिन पहले की हिंदी की मुक्तक-रचनाओं में तो वर्णन-परम्परा के साथ ऐसा खिलवाड़ किया गया कि रीतिकाल के जिस कवि को देखिए वही संयोग या वियोग-शृङ्गार के उद्दीपन के लिए पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों को, हर्ष या विषाद की भूमिका देकर

उनसे कवायद करा रहा है, या नायक-नायिका के सौंदर्य-वर्णन में उपमान बनाकर उनकी झड़ी लगा रहा है। आधुनिक हिंदी-कविता में भी यह प्रवृत्ति एक-आध अंश में अभी तक चली जा रही है। महादेवीजी के काव्य में इन चीजों का वर्णन अधिकतर विप्रलम्भ शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही होता है। पंतजी या दो-एक और कवियों में ही प्रकृति-निरीक्षण की प्रवृत्ति दिखायी पड़ी है। इस प्रकार प्रकृति के जो अंग सामाजिक जीवन के उपयोगी भाग थे वे अब तक की हिंदी-कविता में अलङ्कार बन कर या उसके भावों के उद्दीपन मात्र बनकर आये। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, जिसके कारण वें हमारे सहचर या सहयोगी हैं, कविता में लेशमात्र को ही स्वीकार किया।

पहले कहा जा चुका है कि पेड़, फूल, पशु, पक्षियों के बारे में संस्कृत की कविता से ली गयी परम्पराएँ ही हिन्दी की कविता में ग्रहण की गयीं। यह परम्पराएँ क्या हैं और इनका आधार क्या है? कुछ का आधार पौराणिक है, कुछ का अंध-विश्वास और कुछ का साधर्म्य। पौराणिक कवि-प्रसिद्धियों के अनुसार भिन्न-भिन्न पशु, भिन्न-भिन्न देवताओं के वाहन के रूप में स्वीकार किये गये हैं। जैसे अश्व राम और उनके भाइयों का, उच्चैःश्रवा नाम का घोड़ा सूर्य का, ऐरावत हाथी इन्द्र का, नाँदी शिव का, महिष यमराज का, श्वान भैरव का, मकर वरुण का, गरुण विष्णु का, मोर कार्त्तिकेय का, मूषक गणेश का वाहन है। रामायण. सूरसागर, महाभारत जैसे पौराणिक विषयों को

लेकर चलने वाले काव्य-ग्रंथों में देवताओं के इन पशु-पक्षी वाहनों का उल्लेख प्रसंगानुसार होता आया है और उनके पौराणिक महत्व के अनुकूल ही उनके प्रति श्रद्धा भी दिखायी गयी है। वृक्षों के बारे में कालिदास के मेघदूत और राजशेखर की काव्य-मीमांसा में अनेक कवि प्रसिद्धियों का उल्लेख है जैसे कि सुन्दरियों के आघात से अशोक, आलिङ्गन से कुर्वक, मृदुहास से चम्पक, नृत्य से कर्णाकार आदि कुसुमित हो जाते हैं। लेकिन हिंदी की कविता ने इस परंपरा को ग्रहण नहीं किया, क्योंकि जिन परिस्थितियों में हिंदी की कविता का जन्म हुआ उनमें मानवीय प्रेमगाथाओं के लिये अवकाश न था। चातक, चकोर और चक्रवाक पक्षियों के बारे में भी 'कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। चातक केवल स्वाति बूँद ही पीता है। चाहे जितनी घनघोर वर्षा हो या नदी-तालाब भरे हों पर प्यासा ही बना रहता है और स्वाति बूँद के बिना पी-पी की रट लगा कर अपने प्राण गवा देता है। चकोर को चाँदनी प्रिय है। वह उसी का पान करता है, और जब चंद्रमा नहीं रहता तब वह व्याकुल तड़पता रहता है। चक्रवाक पक्षी का जोड़ दिन भर तो साथ रहता है लेकिन रात को अलग हो जाता है। वियोग-शृङ्गार के वर्णन में इन पक्षियों की उपमा देना हिंदी कवियों की परंपरा रही है, और वे उद्दीपन के रूप में भी लाये गये हैं। जायसी, तुलसी, सूर से लेकर बाबू मैथिलीशरण गुप्त तक के काव्यों में इन पक्षियों का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

फूलों के बारे में कुछ कवि-प्रसिद्धियाँ हैं। जैसे कुमुद दिन में विकसित नहीं होता, अर्थात् उसे चाँदनी ही प्रिय है; या कमल दिन में ही निकलता है, यानी उसे रात्रि प्रिय नहीं है और सूर्य के आगमन से उसका हृदय खिल उठता है। नायक-नायिका के हर्ष-विषाद के वर्णन में कुमुद और कमल के इन गुणों की उपमाएँ यत्र-तत्र सर्वत्र देखने को मिलती हैं।

अलंकार के रूप में तो पुष्पों की खास तौर पर खूब खींचा-तानी हुई है। नारी शरीर के विभिन्न अङ्गों के उपमेय ढूँढ़ने में कवियों और आचार्यों ने बड़े सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। यह उपमेय नारी-शरीर के अपेक्षित गुणों से साधर्म्य रखने वाले फल-फूल हैं। जायसी, सूर और तुलसी में तो इनका प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ ही है लेकिन रीति-कालीन कविता में उनकी झड़ी लगायी गयी है। जहाँ स्त्री के रङ्ग की जरूरत पड़ी वहाँ चम्पा और केतकी, मुखमंडल के लिए कमल, नेत्रों के लिए कमल, नील कमल, खंजन और चकोर; अधरों के लिए बन्धूक पुष्प, दाँतों के लिए कुन्दकली, बाँहों के किए मृणाल-नाल, हाथों के लिये पद्म, वक्षों के लिये कमल, चक्रवाक, ऊरु के लिए कदली स्तम्भ, चरणों के लिये कमल आदि उपमाएँ पेश कर दीं। इनमें से बहुत उपमान पुरुषों के सौंदर्य-वर्णन में भी आते हैं। हिंदी-कविता में कमल के फूल का सबसे अधिक महत्व है। शरीर के हर अङ्ग की उपमा उससे दी गयी है, ऐसे स्थल भी मिलते हैं जहाँ एक ही पंक्ति में उससे चार-चार उपमानों

की कावायद करायी गई है, जैसे 'नवकंज-लोचन कंजमुख करकंज पद कंजारुणम्।'

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में पेड़-पौधों, पशु पक्षियों और फूलों का एक और परम्परा के अन्तर्गत वर्णन हुआ है, और वह परम्परा है उनके शुभ-अशुभ लक्षणों की। किसी उत्सव का वातावरण दिखाने के लिये अशोक, आम मौलश्री, वेल, कदली, चन्दन आदि वृक्षों; कमल, चंपक, शेफाली, मालती आदि फूलों गौ, गज, अश्व, मृग आदि पशुओं, हंस, मोर, भारद्वाज, नीलकन्ठ, कोकिल, खञ्जन, शुक, भुजंगा, कबूतर पिड़की आदि पक्षियों को उपस्थित दिखायी जाती है। किसी दुर्घटना की पूर्व सूचना देना या उसके बाद का वातावरण दिखाने के लिये बबूर, वेर, इमली आदि अपशकुन सूचक पेड़ों का नाम लिया जाता है; पशुओं में बिल्ली, कुत्ता, लोमड़ी, गीदड़ नेवला, भैंस, बन्दर, साही स्यार और पक्षियों में उल्लू, चील गिद्ध बाज आदि आते हैं।

अब तक हमने पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों के वर्णन की परम्पराओं का जिक्र ही ज्यादा किया है क्योंकि मेरा उद्देश्य यह बताना था कि हिन्दी की कविता में उनका वर्णन किस रूप में हुआ है और उनका क्या महत्व है। महत्व होने से ही कवि-प्रसिद्धियाँ और परम्पराएं बनती हैं, इसलिये उन्हें समझ लेना जरूरी था।

आजकल की छायावादी या प्रगतिवादी कविता ने इन

शेष स्मृति

[डा० रघुवीर सिंह]

सीकरी का सीकर सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर ही भीतर खोंखला होने लगा। करोड़ों पीड़ितों के तपतपाये आँसुओं से सींचे जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली हो गई थीं, अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं युद्ध की चमचमाती हुई चपला चमकी पराजय रूपी वज्र-पात होने लगे तब तो यह साम्राज्य-रूपी वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया, और उसके अवशेष, विलास और ऐश्वर्य का वह भव्य इंधन, असहायों के निश्वासों तथा शहीदों की भीषण फूँकारों से जल कर भस्म हो गये। जहाँ तक सुन्दर वृक्ष खड़ा था, जो संसार में एक अनुपम वस्तु थी, वहाँ कुछ ही शताब्दियों में रह गये, गम्भीर गह्वर, उस वृक्ष के कुछ अध-जले झुलसे हुए यत्र-तत्र बिखरे टुकड़े तथा उस विशाल वृक्ष की मुट्ठी भर भस्म। सीकरी के खण्डहर उसी भस्म को रमाये खड़े हैं।

सब कुछ सपना ही तो था·········देखते ही देखते विलीन

हो गया। दो आँखों की यह सारी करामात थी। प्रथम तो एकाएक झोंका आया, अकबर मानों सोते से जाग पड़ा, स्वप्नलोक को छोड़ कर भौतिक संसार में लौट आया। स्वप्न भङ्ग हो गया और साथ ही स्वप्नलोक भी उजड़ गया,...तब रह गई उनकी एकमात्र शेष स्मृति। किन्तु दो आँखें–अकबर की ही आँखें—ऐसी थी जिन्होंने यह सारा स्वप्न देखा था, जिनके सामने ही इस स्वप्न का सारा नाटक—कुछ काल के लिये ही क्यों न हो—एक सुन्दर मनोहारी नाटक खेला गया था।....... जिनमें अकबर स्वयं एक पात्र था, उस स्वप्नलोक के रङ्ग-मञ्च पर पूरी शान और सदा के साथ अपना पार्ट खेलता था। उन दो आँखों के फिरते ही उनके बन्द होने के बाद उस स्वप्न की रही-सही स्मृतियाँ भी लुप्त हो गईं। जो एक समय सच्ची घटना थी, जो बाद में स्वप्न मात्र रहा गया था, आज उसका कुछ भी शेष न रहा। अगर कुछ बाकी बचा है तो केवल वह सुनसान भग्न रङ्ग-मञ्च, जहाँ यह दिव्य स्वप्न आया था, जहाँ जीवन का वह अद्भुत रूपक खेला गया था, जहाँ कुछ काल के लिये समस्त संसार को भूल कर अकबर ऐश्वर्य-सागर में गोते लगाने के लिए कूद पड़ा, जहाँ अकबर के मदमाते यौवन की अक्षय कामनाओं और उद्दीप्त वासनाओं ने नग्न नृत्य किया था, और जहाँ वह महान् भारत-विजयी सम्राट, अपनी महत्ता को भूलकर, अपने गौरव को ताक में रख कर एक साधारण मानव बन जाता था; रङ्गरेलियाँ करता था, बालक की तरह उछलता था। जीवन के साथ आँखमिचौनी

हृदय फट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। वे टुकड़े सारे भग्न स्वप्न-लोक में बिखर गए, निर्जीव होकर पथरा गए। सीकरी के लाल-लाल खण्डहर अकबर के उस विशाल हृदय के रक्त से सने हुए टुकड़े हैं। टुकड़े-टुकड़े होकर अकबर का हृदय निर्जीव हो गया, निरन्तर संसार की मार खाकर वह भी पत्थर की तरह कठोर हो गया। जिस हृदय ने अपना यौवन देखा, अपने वैभवपूर्ण दिन देखे, जो ऐश्वर्य में लोटता था, स्नेह-सागर में जो डुबकियाँ लगाता था, राज्य-श्री की गोद में जिसने वरसों विश्राम किया, मद से उन्मत्त जो वरसों स्वप्नसंसार के उस सुन्दर लोक में विचरा, वही भग्न, जीर्ण-शीर्ण पथराया हुआ, शताब्दियों से सर्दी, गर्मी, पानी और पत्थर की मार खाकर भी चुप है।

× × ×

शताब्दियाँ बीत गईं और आज भी सीकरी के वे सुन्दर रंगीले खण्डहर खड़े हैं। उस नवजात शिशु-नगरी ने केवल पन्द्रह वर्ष ही शृङ्गार किया, और फिर उसके प्रेमी ने उसे त्याग दिया; उसने उसे ऐसा भुला दिया कि कभी भूल से भी लौट कर मुँह नहीं दिखाया। ऐश्वर्य और विलास में जिसका जन्म हुआ था, अनन्त यौवना राज्य-श्री ने जिसे पाला-पोसा था, एक मद-माते युवा सम्राट ने जिसका शृङ्गार कराने में अपना सर्वस्व लुटा दिया था और जिसकी अनुपम सुन्दरता पर एक महान् साम्राज्य नाज करता था, उससे अपने प्रेमी द्वारा ऐसा तिरस्कार —और अपमान—नहीं सहा गया। अकबर के समय में ही उसने

वैभव को त्याग कर विधवा-वेश पहिन लिया था। बिछुए फेंक कर उसने बिछुआ हृदय से लगाया। और अकबर की मृत्यु होते ही तो सब कुछ लुट गया; हृदय विदीर्ण हो गया, शोक के मारे फट गया, अंग क्षत-विक्षत हो गये, आँखें पथरा गईं और आत्मा अनन्त में विलीन हो गई। भारत-विजेता, मुगल-साम्राज्य के निर्माता, महान् अकबर की प्यारी नगरी का वह निर्जीव शरीर शताब्दियों से पड़ा धूल-धूसरित हो रहा है।

× × ×

सर-सर करती हुई हवा एक छोर से दूसरे छोर तक निकल जाती है और आज भी उस निर्जीव सुनसान नगरी में फुस-फुसाहट की आवाज में डरता हुआ कोई पूछता है—"क्या अब भी मेरे पास आने को वह उत्सुक है?" बरसों शताब्दियों से वह उसकी बाट देख रही है, अब······रह गया है उसका वह अस्थि-पंजर। उस छिटकी हुई चाँदनी में तारागण टिमटिमाते हुए मुस्करा कर उसकी ओर इंगित करते हैं—"क्या सुन्दरता की दौड़ इस अस्थि-पंजर तक ही है!" और प्रतिवर्ष जब मेघ-दल उन खण्डहरों पर होकर गुजरता है तब वह पूछ बैठता है—"क्या कोई संदेशा भिजवाना है?" और तब उन खण्डहरों में गहरी निश्वास सुन पड़ती है और उत्तर मिलता है--"अब किस दिल से उसका स्वागत करूँ?" परन्तु दूसरे ही क्षण उत्सुकता अब भरी काँपती हुई आवाज में एक प्रश्न भी होता है—"क्या अब भी उसे मेरी सुध है?"

परन्तु......विस्मृति का वह काला पट !...दर्शक के प्रश्न के उत्तर में गाइड अपनी टूटी-फूटी अँगरेजी में कहता है—'इस नगरी को हिन्दुस्तान के बादशाह शाहंशाह अकबर ने कोई साढ़े तीन सौ वर्ष पहले बनवाया था।"

— —

परिशिष्ट

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(१८५०—१८८५ ई०)

आधुनिक हिन्दी के जन्म-दाताओं में भारतेन्दु प्रमुख हैं। वे प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश से सम्बन्धित काशी के रत्न थे। पिता गोपालदास से साहित्यिक संस्कार प्राप्त कर इन्होंने बचपन में घर पर ही फारसी, हिन्दी, संस्कृत और अँग्रेजी में योग्यता प्राप्त की। राजा शिवप्रसाद ने इन्हें अँग्रेजी पढ़ाई थी और ये इन्हें अपना गुरु मानते थे। रचनाओं का आरम्भ घर की साहित्य-गोष्ठियों में पढ़ी समस्या पूर्तियों के रूप में हुआ। ये हमारे पहले महत्वपूर्ण पत्रकार भी हैं। 'कवि वचन सुधा' (१८६७) 'हरिश्चन्द्र मैग-जीन' (१८७३) और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' (१८७४) द्वारा इन्होंने हिन्दी-पत्रकार-कला को जन्म दिया।

गद्य की सर्वमान्य शैली भी पहली बार भारतेन्दु ने ही स्थापित की और इनके मंडली के सदस्यों ने उसे आगे बढ़ाया। इनके साहित्य में कविता, नाटक और निबन्ध ही अधिक हैं। जहाँ कविता में ये अधिकतर रूढ़ि वादी हैं, वहाँ नाटक और निबंध में प्रगतिवादी। ये हिन्दी के पहले गद्य शैलीकार हैं।

परन्तु......विस्मृति का वह काला पट !..
उत्तर में गाइड अपनी टूटी-फूटी अँगरेजी
नगरी को हिन्दुस्तान के बादशाह शाहंशाह
तीन सौ वर्ष पहले बनवाया था।"

रूढ़िवादिता
देक काल
धारा
चार

की उपासना

तक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ज.
'वेदों' के अंग्रेजी अनुवाद उपस्थित
पत्र-व्यवहार था और वे इन्हें 'मोक्षमूलर'
लालस = भोगाकांक्षी, इन्द्रियलिप्स, श्रद्धा—जाड्य =
वह दिन) ऊपर पर गये = लद गये, बीत गये; सहवास
समागम; निवृत्त = बन्द।

पं० बालकृष्ण भट्ट

(१८४४—१९१४ ई०)

भट्टजी का कार्यक्षेत्र प्रयाग है। यहाँ शिक्षा प्राप्त कर ये पहले जमुना मिशन स्कूल और फिर कायस्थ पाठशाला में अध्यापक हो गये। १८७८ ई० में इन्होंने 'हिंदी वर्द्धिनी सभा' के पत्र 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन भार ले लिया, और ३२ वर्षों तक अदम्य उत्साह के साथ इसे जीवित रक्खा। उन दिनों पत्रों का चलाना लोहे के चने चबाना था। 'हिन्दी प्रदीप'

की बत्तीस वर्षों की फाइलों में न जाने कितने उपन्यास, नाटक, सामयिक और साहित्यिक निबन्ध भरे पड़े हैं जिनका सारा श्रेय इन्हें ही है।

भारतेन्दु-मंडली के सदस्यों में ये सबसे गम्भीर हैं। प्रतापनारायण मिश्र में हास-परिहास और चुहल अधिक है, राधाचरण गोस्वामी की उच्छृ-ङ्खलता और उनके विचारों की नितान्त आधुनिकता हमें आकर्षित करती है, परन्तु भट्टजी के गम्भीर पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व के आगे हम नतमस्तक हो जाते हैं। भारतेन्दु युग की शैली का सबसे निखरा रूप इन्हीं की शैली में मिलेगा।

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक 'जगत-प्रवाह' या काल-प्रवाह जैसे गंभीर विषय पर विचार कर रहा है। वह अनादि काल-स्रोत मनुष्य के सारे प्रयत्नों को छोटा कर देता है, परन्तु साथ ही यह हमारे प्रयत्नों को गुरुता भी देता है। निबन्ध में जो निराशावाद की एक क्षीण धारा बह रही है, वह विषय के कारण है। भट्टजी की मूल प्रकृति से उसका कोई संबन्ध नहीं है। उन-जैसा आशावादी, कठोर कर्मठ व्यक्ति हिन्दी के इतिहास में नहीं मिलेगा।

टिप्पणियाँ—प्रद्योतित = दीप्त, चमकता हुआ; औजार = अस्त्र; आयुष्य = आयु, व्यापृत = व्याप्त।

श्री प्रतापनारायण मिश्र

(१८५६—१८९४)

ये कानपुर से संबंधित है। बचपन से अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभाव होने के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। परन्तु जब पढ़ने का शौक लगा

भारतेन्दु पुष्टिमार्गी वैष्णव थे, परन्तु उनकी वैष्णवता रूढ़िवादिता नहीं थी। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' निबंध में उन्होंने वैदिक काल से वैष्णव विचार-धारा का विकास दिखाया है और अन्य विचार धाराओं की अपेक्षा उसे अधिक प्रगतिशील सिद्ध किया है। धार्मिक विचारावली को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखने का नया ढंग हमें इस निबन्ध में मिलेगा।

टिप्पणियाँ—वैष्णव—विष्णु की उपासना करने वाला। गायत्री—'गायत्री' छन्द में लिखा ऋग्वेद सविता (सूर्य) की उपासना का प्रसिद्ध मंत्र; प्रोफेसर मैक्समूलर—१६ वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जो इंगलैण्ड में रहने लगा था और जिसने 'वेदों' के अंग्रेजी अनुवाद उपस्थित किये। स्वामी दयानन्द से इसका पत्र-व्यवहार था और वे इन्हें 'मोक्षमूलर' कहते थे। अतिविलासलालस = भोगाकांक्षी, इन्द्रियलिप्स, श्रद्धा—जाड्य = अन्ध-भक्ति; [वह दिन) कूच कर गये = लद गये, बीत गये; सहवास = सम्बन्ध, समागम; निरुद्ध = बन्द।

पं० बालकृष्ण भट्ट

(१८४४—१९१४ ई०)

भट्ट जी का जन्म-स्थान प्रयाग है। यहां शिक्षा प्राप्त कर ये पहले जमुना मिशन स्कूल और फिर कायस्थ पाठशाला में अध्यापक हो गये। १८७७ ई० में इन्होंने 'हिन्दी वर्द्धिनी सभा' के पत्र 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन भार ले लिया और ३२ वर्ष तक अत्यन्त उत्साह के साथ उसे जीवित रक्खा। उन दिनों पत्रों का प्रकाशन लोहे के चने चबाना था। 'हिन्दी प्रदीप'

की बत्तीस वर्षों की फाइलों में न जाने कितने उपन्यास, नाटक, सामयिक और साहित्यिक निबन्ध भरे पड़े हैं जिनका सारा श्रेय इन्हें ही है।

भारतेन्दु-मंडली के सदस्यों में ये सबसे गम्भीर हैं। प्रतापनारायण मिश्र में हास-परिहास और चुहल अधिक है, राधाचरण गोस्वामी की उछृङ्खलता और उनके विचारों की नितान्त आधुनिकता हमें आकर्षित करती है, परन्तु भट्टजी के गम्भीर पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व के आगे हम नतमस्तक हो जाते हैं। भारतेन्दु युग की शैली का सबसे निखरा रूप इन्हीं की शैली में मिलेगा।

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक 'जगत-प्रवाह' या काल-प्रवाह जैसे गंभीर विषय पर विचार कर रहा है। वह अनादि काल-स्रोत मनुष्य के सारे प्रयत्नों को छोटा कर देता है, परन्तु साथ ही यह हमारे प्रयत्नों को गुरुता भी देता है। निबन्ध में जो निराशावाद की एक क्षीण धारा बह रही है, वह विषय के कारण है। भट्टजी की मूल प्रवृति से उसका कोई संबन्ध नहीं है। उन-जैसा आशावादी, कठोर कर्मठ व्यक्ति हिन्दी के इतिहास में नहीं मिलेगा।

टिप्पणियाँ—प्रद्योतित = दीप्त, चमकता हुआ; औजार = अस्त्र; आयुष्य = आयु, व्यापृत = व्याप्त।

श्री प्रतापनारायण मिश्र

(१८५६—१८९४)

ये कानपुर से संबंधित है। बचपन से अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभाव होने के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। परन्तु जब पढ़ने का शौक लगा

भारतेन्दु पुष्टिमार्गी वैष्णव थे, परन्तु उनकी वैष्णवता रूढ़िवादिता नहीं थी। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' निबंध में उन्होंने वैदिक काल से वैष्णव विचार-धारा का विकास दिखाया है और अन्य विचार धाराओं की अपेक्षा उसे अधिक प्रगतिशील सिद्ध किया है। धार्मिक विचारावली को ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से परखने का नया ढंग हमें इस निबन्ध में मिलेगा।

टिप्पणियाँ—वैष्णव—विष्णु की उपासना करने वाला। गायत्री—'गायत्री' छन्द में लिखा ऋग्वेद सविता (सूर्य) की उपासना का प्रसिद्ध मंत्र; प्रोफेसर मैक्समूलर—१६ वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् जो इंग्लैण्ड में रहने लगा था और जिसने 'वेदों' के अंग्रेजी अनुवाद उपस्थित किये। स्वामी दयानन्द से इसका पत्र-व्यवहार था और वे इन्हें 'मोक्षमूलर' कहते थे। अभिविलासलालसा = भोगाकांक्षा, इन्द्रियलिप्सा, श्रद्धा—जाड्य = अन्ध-भक्ति; (वह दिन) ऊपर पड़ गये = लद गये, बीत गये; सहवास = सम्बन्ध, समागम; निरुद्ध = बन्द।

पं० बालकृष्ण भट्ट

(१८४४—१९१४ ई०)

[illegible] प्रयाग [illegible]। वहीं शिक्षा प्राप्त करने के [illegible] जमुना मिशन स्कूल और फिर कायस्थ पाठशाला में अध्यापक हो गये। १८७७ ई० में इन्होंने 'हिंदी वर्द्धिनी सभा' के पत्र 'हिन्दी प्रदीप' का संपादन [illegible] लिया, और ३२ वर्ष तक अत्यन्त उत्साह के साथ [illegible]। [illegible] 'हिन्दी प्रदीप'

की बत्तीस वर्षों की फाइलों में न जाने कितने उपन्यास, नाटक, सामयिक और साहित्यिक निबन्ध भरे पड़े हैं जिनका सारा श्रेय इन्हें ही है।

भारतेन्दु-मंडली के सदस्यों में ये सबसे गम्भीर हैं। प्रतापनारायण मिश्र में हास-परिहास और चुहल अधिक है, राधाचरण गोस्वामी की उच्छृ-ङ्खलता और उनके विचारों की नितान्त आधुनिकता हमें आकर्षित करती है, परन्तु भट्टजी के गम्भीर पांडित्यपूर्ण व्यक्तित्व के आगे हम नतमस्तक हो जाते हैं। भारतेन्दु युग की शैली का सबसे निखरा रूप इन्हीं की शैली में मिलेगा।

प्रस्तुत निबन्ध में लेखक 'जगत-प्रवाह' या काल-प्रवाह जैसे गंभीर विषय पर विचार कर रहा है। वह अनादि काल-स्रोत मनुष्य के सारे प्रयत्नों को छोटा कर देता है, परन्तु साथ ही यह हमारे प्रयत्नों को गुरुता भी देता है। निबन्ध में जो निराशावाद की एक क्षीण धारा बह रही है, वह विषय के कारण है। भट्टजी की मूल प्रकृति से उसका कोई संबन्ध नहीं है। उन-जैसा आशावादी, कठोर कर्मठ व्यक्ति हिन्दी के इतिहास में नहीं मिलेगा।

टिप्पणियाँ—प्रद्योतित = दीप्त, चमकता हुआ; औंजार = अस्त्र; आयुष्य = आयु, व्यापृत = व्याप्त।

श्री प्रतापनारायण मिश्र
(१८५६—१८९४)

ये कानपुर से संबंधित हैं। बचपन से अत्यन्त उच्छृङ्खल स्वभाव होने के कारण शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके। परन्तु जब पढ़ने का शौक लगा

तो घर पर उर्दू, फारसी, संस्कृत, बंगला आदि सीख ली। मन-मौजी जीव थे। लावनीबाजों और फक्कड़ियों में उतने ही प्रसन्न थे जितने साहित्य गोष्ठियों में। हास्य और व्यंग इनकी अपनी विशेषताएँ हैं। इनके साहित्य में भी इन विशेषताओं का प्रकाशन हुआ है।

व्यक्तित्व-प्रधान मनोरञ्जक निबन्ध पहली बार इन्होंने ही लिखे। निबन्ध लेखन की इनकी अपनी ही शैली थी जो पाठक से इतनी आत्मीयता स्थापित कर लेती थी कि वह लेखक का हो जाता था। इन्होंने 'ब्राह्मण' (१==४) पत्र निकाला और इनका साहित्य अधिकतः उसी के द्वारा पहली बार प्रकाश में आया। पत्र की आवश्यकताओं के कारण इन्हें ऐसी मनोरञ्जक चुलबुली जीती-जागती शैली का आविष्कार करना पड़ा जो कानपुर जैसे व्यवसायी नगर की अपढ़ जनता को मोह ले। कुछ स्वयं उनकी प्रवृत्तियों के कारण उनके साहित्य में भी अश्लील शब्दों और अमर्यादित भावनाओं को स्थान मिल गया है।

'पंच परमेश्वर' में लेखक पंचों को परमेश्वर बनाता हुआ पहली बार जनता का ध्यान आकर्षित करता है। चुलबुलेपन, हास परिहास और वाग-जाल के जाल में लेखक [illegible] जनता को हँसाता और उनकी सभ्यता से बचने और अपने स्वत्व को पहचानने का उपदेश दे रहा है।

टिप्पणियाँ—पंचक = 'छिति जल पावक गगन समीरा'; पंचामृत = दही, घी, दूध, शहद तथा शक्कर को मिलाकर बनाया हुआ विशेष द्रव्य; पंचेन्द्रिय = पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ; पंचबाण = कामदेव का पुष्पशर जिसके पाँच बाण माने हैं (मारण, शोषण, तापन, मोहन तथा उन्माद); पंचगव्य = पाँच गव्यों (दूध, दही आदि) के योग से बना

पदार्थ; पञ्चत्व = मृत्यु; पञ्चसंस्कार = नाम, जाति, उपनयन, विवाह, मृत्यु; पञ्चकोसी = पाँच कोश के घेरे में काशी की परिक्रमा, वजा कहे जिसे··· समझो = दुनिया जिसे ठीक कहे उसे ठीक समझो, जन-वाणी को ईश्वर की वाणी जानो; पञ्चभूत = पञ्चतत्व, मर्गे अम्बोह जश्ने दारद = वहुतों के साथ मरने में उत्सव है; पञ्चवक्त्र = पंचमुख (युधिष्ठर, भीम, अर्जुन, सहदेव. नकुल)

श्री माधवप्रसाद मिश्र

(१८७१ – १९०९ ई०)

'सुदर्शन' (१६००) के सम्पादक के रूप में पं० माधवप्रसाद मिश्र ने वीसवीं शताब्दी के पहले कुछ वर्षों में हिन्दी-गद्य क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया है। उनके निवन्ध आज भी रोचक और पठनीय हैं। इनकी सारी रचनाओं का एक संकलन प्रकाशित हो चुका है और इसके अध्ययन से इनके ऐतिहासिक महत्व का पता चलता है।

'सव मिट्टी हो गया' शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण निबन्ध है। इसमें विचारधारा की कहानी की-सी कोमलता दी गई है। भारतेन्दु युग में 'स्वप्न' 'कहानी', 'वार्ता', 'स्केच' आदि के रूप में गंभीर विचार को हल्के हाथ से मनोरंजक बनाकर प्रकट करने की अनेक शैलियाँ प्रचलित थी। यह निबन्ध इन्हीं शैलियों का प्रतिनिधित्व करता है।

टिप्पणियाँ—"मंतव्य" पत्र = अंग्रेजी के 'Menifesto' शब्द का हिन्दी रूपान्तर, कज्जलाक्त — कज्जल-मिश्रित; भवनपार्श्ववाहिनी — प्रासाद के पास वहने वाली।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी

(१८७०—१९२९ ई०)

द्विवेदीजी के जन्म का सम्बन्ध जिला रायबरेली के दौलतपुर ग्राम से है, परन्तु वर्षों वे प्रयाग और जुही (कानपुर) में रहे हैं। हाई स्कूल तक शिक्षा प्राप्त कर वे रेल के तार-विभाग में नौकर हो गए। वर्षों उस विभाग में काम किया, परन्तु एक दिन आत्मसम्मान की रक्षा के लिए इस्तीफा दे दिया और स्वतन्त्र रूप से साहित्य-सेवा करने लगे। १९०३ ई० में सरस्वती के सम्पादक हुए और १९१८ तक सम्पादन करते रहे। सम्पादन क्या था, साहित्य का नियन्त्रण। इन पन्द्रह वर्षों में सरस्वती के माध्यम से उन्होंने उच्च श्रेणी का साहित्य ही हिन्दी को नहीं दिया, लेखकों का निर्माण और अनेक ऐसे आन्दोलन चलाये जिन्होंने हिन्दी का रूप बदल दिया। अंग्रेजी साहित्य में १७ वीं शताब्दी में जॉनसन ने जो कार्य किया था, वैसा ही, उतना महत्वपूर्ण कार्य हिन्दी में द्विवेदी जी ने किया। उनके प्रयत्नों से खड़ी बोली काव्य की भाषा बनी, भाषा की अनेक उच्छृंखलताएँ दूर हुईं और एक सामान्य गद्य-शैली का निर्माण हुआ एवं ज्ञान-विज्ञान के अनेक विषयों का साहित्य में समावेश हुआ।

द्विवेदी जी का अधिकांश साहित्य पहले 'सरस्वती' द्वारा सामने आकर फिर बाद में अनेक निबन्धसंग्रहों के रूप में प्रकाशित हुआ। उसमें भाव-शैली और विचारों का [illegible], [illegible] रूप पहली बार मिलता है। लगभग ८० ग्रन्थों में द्विवेदी जी की [illegible] में प्रकाशित 'रसज्ञरंजन', '[illegible]'

'पुरातत्व-प्रसंग', 'साहित्यसीकर', 'समालोचन', इत्यादि शीर्षकों के अन्तर्गत जाने वाली सामग्री सुरक्षित है परन्तु अभी और भी बहुत-सा अप्रकाशित पड़ा है।

'कवि और कविता' निबन्ध में कविता की विशेषताएँ बताने और उसकी सीमाएँ निर्धारित करने का प्रयत्न पहली बार हुआ। आज भी इसके विचार पुराने नहीं हुये।

टिप्पणियाँ—माद्दा=शक्ति; पस्तहिम्मती=अशक्तता; गदर=विद्रोह; जोश—यह शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ है कविता के विषय में कवि का उत्साह और तज्जन्य काव्य-क्षमता। गोल्डस्मिथ=१८ वीं शताब्दी का प्रसिद्ध अङ्गरेजी कवि, पं० श्रीधर पाठक ने इनकी दो बड़ी कविताओं का हिन्दी कविता में अनुवाद किया है; मिल्टन=१६ वीं शताब्दी का इङ्गलैंड का अन्ध महाकवि जिसने प्रसिद्ध 'पैराडाइस लास्ट' ग्रन्थ की रचना की। खन्दक=खाई; हमवार=समतल; दचके=धक्के; खिलाफ=विरुद्ध, बेतरह=बुरी तरह, बे बुनियाद=असत्य, सारहीन जिसकी कोई नींव न हो, तारीफ=प्रशंसा, असलियत=सच्चाई, अनुधावन=पीछे दौड़ना, अनुकरण, जाहिर=प्रकट।

डा० श्यामसुन्दर दास

(१८७५—१९४५)

ये काशी के एक खत्री घराने के रत्न थे। बी० ए० पास करने के बाद सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में अंग्रेजो के अध्यापक हो गये। बाद में कुछ

वर्ष इधर-उधर रहकर अन्त मे काशी विश्वविद्यालय में चले आये और वहाँ कई वर्ष तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रहें। १६३६ ई० में विश्राम लेकर कानपुर में रहने लगें।

बाबू श्यामसुन्दर दास का सबसे महत्वपूर्ण काम हिन्दी का प्रचार और सम्पादन है। उन्होंने १८६३ ई० मे छात्रावस्था में ही इलाहाबाद में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। बाद में यह सभा काशी चली गई। इस सभा द्वारा साहित्य-खोज, सम्पादन और प्रकाशन सम्बन्धी जो काम पिछले ५० वर्षों में हुआ, वह किसी न-किसी रूप से बाबू साहेब से सम्बन्धित है। इन्हीं के तत्वावधान में कई वर्षों के कठोर परिश्रम के बाद सभा ने हिन्दी शब्दसागर (१६१२—२६) और हिन्दी वैज्ञानिक कोष (१६०६) का निर्माण किया। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं साहित्या-लोचन (१६२२), गोस्वामी तुलसीदास (१६३१), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, भाषाविज्ञान (१६३४), भाषा रहस्य (१६३६) और हिन्दी का इतिहास ' हिन्दी भाषा और साहित्य' (१६३०)। इन ग्रन्थों के द्वारा जहाँ उन्होंने साहित्य-समीक्षा की नई शैली उपस्थित की, वहाँ साहित्य के अनेक अङ्गों को भी नई दिशायें दीं।

प्रस्तुत निबन्ध में विद्वान लेखक ने हिन्दी के आदि काल की एक प्रमुख धारा वीरगाथा या चारण-काव्य की कुछ समस्याओं पर प्रकाश डाला है। भाषा का रूप प्रामाणिक न होने और बहुत सी सामग्री प्रक्षिप्त होने पर भी सत्ययुग की संस्कृति के समझाने के लिये वीरगाथा काव्य का अध्ययन अनिवार्य है।

टिप्पणियाँ—समय = रासो के भिन्न-भिन्न सर्ग 'समय' कहे गये

हैं; प्रक्षिप्त = बाद का जुड़ा, क्षेपक; रासो = रासो और रासा नाम से अपभ्रंश काव्य में अनेक जीवनचरित्रात्मक काव्य मिलते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है।

श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

(१८९४ ई०--)

बख्शीजी मध्य प्रदेश के निवासी हैं। उनका कार्यक्षेत्र मुख्यतः इलाहाबाद रहा है और यहीं रहकर उन्होंने कई वर्ष 'सरस्वती' का संपादन किया। साहित्य-क्षेत्र से विश्राम लेने से पहले द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' को इन्हीं के हाथों में सौंपा था। इनका विदेशी साहित्य का अध्ययन विस्तृत है। इसी के आधार पर इन्होंने छायावादी कवियों की समीक्षा की ओर उन्हें उत्साहित किया। 'हिन्दी साहित्य विमर्श' (१९२४) और 'विश्व साहित्य' (१९२४) इनके दो ऐसे ग्रंथ हैं जिनका महत्व ऐतिहासिक है। इनमें हमें पहली बार आधुनिक ढंग की समीक्षा मिलती है। 'पंचपात्र' (१९२३), तीर्थरेणु (१९३०) और प्रबन्ध पारिजात (१९३८) इनके निबन्धों के महत्वपूर्ण सङ्कलन हैं। 'साहित्य का मूल' निबन्ध में बख्शीजी ने एक असाधारण रूप से महत्वपूर्ण विषय पर लेखनी चलाई है। उनके अनुसार साहित्य का मूल तन्मयता है जिसका केन्द्र कवि का कल्पनालोक या शिल्पी का मनोराज्य है। साहित्य और कला का काम अंतःसौन्दर्य का दर्शन कराना है।

टिप्पणियाँ—अनुन्नत = हीन, निर्वाणोन्मुख—मृत्यु के समीप, बुझने के समीप; पार्थिव वैभव = लौकिक या ऐहिक ऐश्वर्य; द्वैतानुभूति

जीव ब्रह्म की विभिन्नता (द्वैत स्थिति) का रागात्मक अनुभव ; जिगीषा = जीतने की इच्छा, पराभूत = विजित, परास्त; हारा हुआ।

श्री सम्पूर्णानन्द

ये काशी के सम्मान्य कांग्रेस-नेता और भारतीय इतिहास, संस्कृति और समाजवाद के प्रतिष्ठित लेखक हैं। वर्षों इधर-उधर विज्ञान के अध्यापक रहकर बाद में काशी-विद्यापीठ में आ गये और वर्षों से उससे सम्बन्धित रहे। असहयोग आन्दोलन (१९२१) से लेकर आज तक जितने राष्ट्रीय आन्दोलन हुए हैं, उन सब में ये अग्रगण्य रहे हैं और आज शिक्षा-मंत्री के रूप में प्रदेशीय शासन में योग दे रहे हैं। जन-नायक के जीवन की व्यस्तता के बीच साहित्यिक और सांस्कृतिक विषयों पर बराबर लिखते रहे हैं। इनके महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं अंतर्राष्ट्रीय विधान (१९२३), समाजवाद (१९३६), व्यक्ति और राज (१९४०) आर्यों का आदि देश (१९४१) और श्रीगणेश (१९४५) ओजपूर्ण साहित्यिक भाषाशैली इनकी विशेषता है।

प्रस्तुत निबन्ध में इन्होंने शिक्षा और शिक्षकों के सच्चे स्वरूप के ऊपर विचार किया है। ये शिक्षक को समाज के अग्रनेता के रूप में देखते हैं। विद्वान् लेखक ने शिक्षा के प्रश्न को मनुष्य जीवन के लक्ष्य के साथ साथ देखना चाहा है। धर्मगुरु और पुरोहित के रूप में अध्यापक की प्रतिष्ठा सचमुच भारत के पुनरुत्थान का नया मंत्र होना चाहिये।

टिप्पणियाँ— मार्क्सवाद = मार्क्स के समाजदर्शन के आधार पर पश्चिम में प्रतिष्ठित नया समाज शास्त्र ; पुराकाल = प्राचीन समय ;

संश्रय = शरण; अभिसंधि; मेल; शाश्वत = चिरंजीवी, अनंत; व्योरे = विस्तार; दृश्यमान = जो दिखाई पड़े; टीसती = टीस उठाती, वेदना उत्पन्न करती; मुदिता = परकीया, नायिका का भेद; स्वत्व = अधिकार; द्रष्टा— देखने वाला; युगपत् = एक ही समय में; समष्टि = समूह; स्वैरिणी = व्यभिचारिणी; भ्रमते = घूमते, संबल = मार्ग में काम आने वाली सामग्री, पाथेय; आयुष्मिक = आयु-संबन्धी, दीर्घायु ।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

(१९०७—)

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी काशी-विश्वविद्यालय के साहित्याचार्य और ज्योतिषाचार्य हैं । मिर्जापुर के किसी स्कूल में पढ़ाते थे, परन्तु आचार्य क्षितिज मोहन सेन ने इन्हें खोज निकाला । वे इन्हें अपने साथ कवि-कुल गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विद्यापीठ 'शांतिनिकेतन' में ले गए । यहां ये कई वर्षों से हिन्दी के प्रधानाध्यापक हैं और कुछ वर्षों से 'विश्व भारती' (हिन्दी त्रैमासिक) का सम्पादन भी करते हैं।

द्विवेदीजी का प्रतिभा मुख्यतः आलोचनात्मक है। सूरसाहित्य (१६३६), हिन्दी साहित्य की भूमिका (१६४०) और 'कबीर' (१६४२) उनके तीन प्रसिद्ध आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। वैसे निबंधों के रूप में उनकी अनेक समीक्षायें मासिक पत्रों में बिखरी पड़ी हैं । भारतीय कला और संस्कृति के वे बड़े प्रेमी खोजी हैं । इस क्षेत्र में इनके अध्ययन ने इन्हें 'प्राचीन भारत का कला विलास' और 'बाणभट्ट की आत्मकथा' जैसे सुन्दर ग्रन्थ लिखने की सामग्री दी है । पिछले ग्रन्थ में ये एक उत्कृष्ट शैलीकार के रूप में सामने आते हैं ।

प्रस्तुत निवन्ध में उन्होंने भारतीय धर्मसाधना में कवीर के स्थान पर विचार किया है। इस पुस्तक में निवन्ध का अन्तिम अंश ही दिया गया है। पूरा निवन्ध इस विषय को अधिक स्पष्ट कर सकेगा। कवीर योगमत, वैष्णवमतवाद, औपनैषदिक निर्गुण मत और इस्लामी सूफीमत के समन्वय-कारी के रूप में हमारे सामने आते हैं। लेखक के मत में विभिन्न भाव धाराओं और विचारधाराओं का समन्वय ही भारतीय प्रज्ञा की विशेषता है। परन्तु कवीर समन्वयवादी ही नहीं, विद्रोही भी हैं। सभी भेदों के ऊपर एकमात्र प्रेम की ही मानव भूमि स्वीकार कर वह नई कोटि का सन्देश हमें देते हैं।

श्री रामचन्द्र शुक्ल

(१८८४-१९४१)

१९०६ ई० में एफ० ए० की परीक्षा पास करने के वाद ये मिर्जापुर में मिशन स्कूल में ड्राइंग के अध्यापक हो गये। 'सरस्वती' में प्रकाशित इनके लेखों ने विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया। फलतः १९०८ में हिन्दी शब्दसागर के सहकारी संपादक के रूप में नियुक्त किये गये। इन्होंने ८६ वर्षों तक नागरी प्रचारिणी पत्रिका का संपादन भी किया। इसके पश्चात् हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर और वाद में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में हिन्दी की सेवायें करते रहे।

शुक्लजी साहित्य के इतिहासकार और आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। जायसी (जायसी ग्रन्थावली, १९२५), सूर (भ्रमरगीत सार, १९२६) और तुलसी (गोस्वामी तुलसीदास, १९३३) पर लिखी उनकी

आलोचनाओं ने इन कवियों के गम्भीर अध्ययन का मार्ग खोला। 'विचारवीथी' (१६३०), त्रिवेणी (१६३६) और चिन्तामणि (भाग १,२, १६३६, १६४६) में उनके निबन्धों और आलोचना का संग्रह है। सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक है 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१६३०)। इसका आधुनिक काल से संबन्धित अंश भारतीय आलोचना साहित्य में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करेगा।

प्रस्तुत निबन्ध में प्रेममूलक दो महत्वपूर्ण भावधाराओं—भक्ति और श्रद्धा—का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। भक्ति रागात्मक है, श्रद्धा प्रज्ञात्मक। मनोवैज्ञानिक होने के कारण निबन्ध कुछ क्लिष्ट है परन्तु शुक्लजी की भावधारा कहीं भी अस्पष्ट नहीं हो पाई है।

श्री वियोगी हरि

भावुक निबन्ध लेखक, सामाजिक और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता और अध्यात्म तत्व के साधक के रूप में वियोगी हरि प्रसिद्ध है। आजकल यह दिल्ली की हरिजन वस्ती की अनेक संस्थाओं के अधिष्ठाता है।

वियोगी हरि की शैली का चमत्कार पहले 'भावना' और 'अन्तर्नाद' ग्रन्थों में दिखलाई पड़ी। इनमें छोटे-छोटे भावनापूर्ण गद्य-गीत हैं जिनमें परोक्ष आलम्बन को प्रियतम मानकर उनके साथ संयोग और वियोग की अनेक दशाओं की कल्पना की गई है। कुछ अन्य रचनाओं में लेखक धाराप्रवाह के रूप से प्रसिद्ध कवियों की उक्तियों का सहारा लेता हुआ भावना में वहता चला जाता है। 'सच्चा मनोराज्य' इसी शैली का प्रतिनिधित्व करता है।

इस निवन्ध का मन्तव्य यह है कि संसार के सव मनुष्य किसी-न-किसी मनोस्थिति विशेष (मनोराज्य) में रह रहे हैं। धन-जन, भोग-विलास, वाद-विवाद, अधिकार ये सव भिन्न भिन्न 'मनोराज्य' हैं। सच्ची मस्ती, सच्चा मनोराज्य आत्मानन्द में है।

टिप्पणियाँ—भर्तृहरि = मध्ययुग का एक प्रसिद्ध राजा जिसकी माता का नाम मैना कहा जाता है। 'भरथरी' नाम से हम इस राजा को गोरखनाथ सम्वन्धी अनेक दंतकथाओं में पाते हैं, भागीरथी = गङ्गा; स्थितप्रज्ञ = निष्काम कर्मयोगी। गीता के दूसरे अध्याय के ५५-७२ श्लोकों में स्थितप्रज्ञ की व्याख्या की गई है; कुवेर = यक्षपुरी का अध्यक्ष, रसखान = दिल्ली के कृष्ण-भक्त पठान कवि स्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे; पं० राधाचरण गोस्वामी = ये भारतेन्दु मण्डली के महत्वपूर्ण लेखक थे; ताज = मध्ययुग की एक प्रसिद्ध मुसलमान कृष्ण-भक्त कवियित्री; नागरीदास = कृष्णगढ़ नरेश महाराज सावन्तसिंह (१६६६-१७६२ ई०); साहु कुन्दनलाल = 'ललित किशोरी' इनका उपनाम था। लखनऊ के प्रसिद्ध वैश्य-वंश के रत्न थे; वाद में वृन्दावन में जाकर विरक्त भक्त की तरह रहने लगे।

श्री गुलावराय

सेंट जान्स कालेज, के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर हैं। पहले छतरपुर राज्य में प्रवन्धक के रूप में कार्य कर चुके हैं। दर्शनशास्त्र और साहित्य इनके प्रिय विषय हैं और इन विषयों पर इन्होंने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य-विषयक महत्वपूर्ण ग्रंथ हैं—नवरस (१६२१), हिन्दी साहित्य का

सुबोध इतिहास (१६३६), 'हिन्दी नाट्य-विमर्श' (१६४०) 'सिद्धान्त और अध्ययन' (१६४६) तर्क शास्त्र (१६२६—१६२६) और पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास (१६२६) दर्शनशास्त्र सम्बन्धी रचनाएँ हैं। निबंध और परिहास-लेखक के रूप में भी ये प्रसिद्ध हैं और 'ठलुआ क्लब' (१६२८) इस क्षेत्र में उनकी प्रसिद्ध रचना है। 'मेरी असफलताएँ' (१६४०) शीर्षक से इन्होंने बड़े मनोरंजक ढंग से अपनी आत्म-कथा भी लिखी है।

गम्भीर विचारक के रूप में गुलाबरायजी ने तरुण लेखकों को विशेष रूप से प्रभावित किया है। आगरे के 'साहित्य सन्देश' (आलोचनात्मक मासिक पत्र) के सम्पादक के रूप में इन्होंने आधुनिक साहित्य की गतिविधि को निश्चित दिशाओं में नियोजित किया है।

'काव्य का क्षेत्र' निबन्ध 'सिद्धांत और अध्ययन' ग्रन्थ का एक अध्याय है। इसमें लेखक ने काव्य के क्षेत्र पर विचार किया है। सत्य शिव और सुन्दर को काव्य का क्षेत्र माना जाता है। परन्तु लेखक ने इनकी व्याख्या कर इनके अर्थों में विस्तार उत्पन्न किया है।

टिप्पणियाँ—'सत्यंशिवं सुन्दरम्' = यह सूत्र पहिले-पहल राममोहन राय ने प्रचलित किया। आधुनिक युग में बङ्गाल के अनुकरण पर साहित्य की व्याख्या में इसका विशद प्रयोग हुआ। अफ़लातूँ =यूनान का प्रसिद्ध विचारक प्लेटो इसका समय ई० पू० ४२७—३४७ है। अरस्तू इसी का शिष्य था; अनुद्वेगकरं वाक्यं...तप उच्यते = यह गीता के १७ वें अध्याय का १५ वाँ श्लोक है : 'दुःख न देने वाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्म-ग्रंथों का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है;

किरातार्जुनीय = यह भारवि का प्रसिद्ध महाकाव्य है; दादू = १६ वीं शताब्दी का प्रसिद्ध संतकवि दादूदयाल; पेन्सिलीन = पिछले विश्वव्यापी महायुद्ध के समय आविष्कृत चमत्कारी औषधि।

सुश्री महादेवी वर्मा

(१९०७ ई०—)

श्रीमती महादेवी वर्मा का कार्यक्षेत्र प्रयाग रहा है। यहीं उन्होंने एम०. ए० तक संस्कृत की शिक्षा प्राप्त की और यहीं वर्षों से महिला-विद्यालय की अधिष्ठात्री हैं। छायावादी कवि के रूप में ये प्रसिद्ध हैं और नीहार (१९३०), (१९३२), नीरजा (१९३५) सांध्यगीत (१९३६) और दीपशिखा (१९४२) इनके महत्वपूर्ण कविता-संग्रह हैं। 'चाँद' की सम्पादिका के नाते और अपनी काव्य-पुस्तकों की भूमिका में वे बहुत दिनों से थोड़ा बहुत गद्य भी लिखती रहीं, परन्तु 'अतीत के चलचित्र' (१९४१) और 'शृङ्खला की कड़ियाँ, (१९४२) लिखकर उन्होंने गद्य शैली के क्षेत्र में नई कला का प्रवर्तन किया है। चित्रकार्या होने के कारण उनकी भाषा भी आलङ्कारिक और चित्रबहुल हैं और कहीं-कहीं सरल भाषा में वह मानवीय सम्वेदना को बहुत सुन्दर कलात्मक ढंग से उपस्थित कर सकी हैं।

यह रेखाचित्र 'अतीत के चलचित्र' से लिया गया है। इसमें महादेवी वर्मा ने नारी और समाज की एक महत्वपूर्ण समस्या पर प्रकाश डाला है। सामाजिक जीवन आज की नारी को कितना जकड़े है, एक भी गलत कदम उसे किस प्रकार रौरव यातना में डाल सकता है, युगों

से किस प्रकार उसकी शक्ति की नहीं, सहनशीलता की परीक्षा हो रही है, यह सब जानते हैं; परन्तु सहानुभूति का सारा बल देकर इस विडंबना के प्रति नारी का विद्रोह महादेवी की रचनाओं में ही प्रकट हुआ है ।

टिप्पणियाँ—गुलकपंखी वैतालिक = भावुक गीत गाते हुए विहंगम, अन्तराल = अवकाश, हृदय, आकाश; अरण्यरोदन = व्यर्थ की बात; कवि मुनि = शकुन्तला के वृद्ध पिता; मुंडन-कनछेदन आदि-आदि नहीं सीखे = आजकल लोग जिस तरह बात-बात पर कवि सम्मेलन करते हैं, और कविता को लांछित करते हैं, उस पर व्यंग; सामाजिक विकृति का बौद्धिक निरूपण = समाज में जो विकार उत्पन्न हो गये हैं, उनके कारण उसमें जो कुरूपता आ गई है उसकी बुद्धिप्रधान विवेचना; नेग = विवाह रीतियों के समय दान इत्यादि के रूप में जो दिया जाता है; मेरे मन का निष्क्रिय विषाद क्रोध के सहस्र स्फुलिङ्गों में बदलने लगा = मेरे मन में जो क्षोभ था वह अब अधिक उग्र हो गया, आत्मा का जो अंश, हृदय का जो खंड = पुत्र, चक्रव्यूह = सैन्य-सुरक्षा का एक प्राचीन ढङ्ग, यहाँ सामाजिक बन्धन, धरोहर = थाती, स्फुलिङ्ग = चिनगारी ।

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

(१८९३ ई०—)

'प्रभा' और 'कर्मवीर' के सम्पादक और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता के रूप में श्री माखनलाल चतुर्वेदी उतने महत्वपूर्ण नहीं है जितने गद्य गीतकार, कवि और वक्ता के रूप में। भावुकतापूर्ण भाषणकला में वे अद्वितीय हैं

गद्य को जितना कलात्मक रूप वे दे सकते हैं, उतना आधुनिक युग का कोई कलाकार नहीं। इनके गद्य और पद्य दोनों में एक ही प्रकार की सांकेतिकता, एक ही प्रकार की भावुकता है। परन्तु इस भावुकता में बुद्धितत्व का भी मिश्रण है और लाक्षणिक प्रयोगों के कारण साधारण मनीषा इसे ग्रहण ही नहीं कर सकती। ५४ वर्ष की अवस्था में आज भी माखनलाल की वाणी में वही तरुण की सी काव्योपमेयता है, वही ओज।

'साहित्यदेवता' में लेखक ने साहित्य-देवता की तस्वीर खींचने की चेष्टा की है। अनेक भावुक शब्दों (मेरे मास्टर, सेनानी, प्रियतम, सिपहसालार, देवता शब्दों से साहित्यदेवता को ही संबोधित किया गया है। साहित्य-देवता की तस्वीर खींचना कठिन इसलिये है कि वह साहित्यकार के मन के क्षण-क्षण बदलते हुये साहित्य-विधानों और सौन्दर्यानुभूतियों का ही प्रतिरूप है। पहले खंड में 'साहित्य-देवता' और कलाकार का कथोपकथन है। फिर कलाकार साहित्य-देवता की तस्वीर न खींच सकने की अपनी मजबूरियाँ प्रकट करता है।

टिप्पणियाँ—मुग्ध = प्रशांत, तुम तो वाणी······जगमगाहट हो = यहाँ वाणी को सीपी (शुक्ति) माना गया है और उसकी साहित्यिक छटा को सीपी के भीतर के मोती की दीप्ति। यह दीप्ति ही दैवी आलोक है।

लहरों······हुए = सबसे अलग रहकर भी सब को प्रकाशित, प्रदीप्त करते हुए जमीन से मिलाने वाले आसमान के जीने = स्वर्ग और मृत्यु का ग्रन्थि-बन्धन करने वाले अलौकिक उपकरण, लांगफैलो = १८वीं शताब्दी का अमरीका का अङ्गरेजी भाषा का कवि, 'शम्भु' = कानपुर

के एक कवि जिनकी कविता पं० माखनलाल को प्रिय थी, नगाधिराज= हिमालय, निम्नगाओं = सरिताओं, तरल तूलिकायें = जीवन की चंचल परिस्थितियाँ जो पकड़ में नहीं आतीं, पितृतर्पण करने वाले अल्हड़= पूर्वजों का सम्मान करने वाले नये, तरुण कवि; कलियाँ = नवयुवक कवि; 'अशेष......शेष का खिलवाड़' ससीम और असीम का अनूठा समन्वय।

डा० धीरेन्द्र वर्मा

प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। ये १९२२ ई० में पैरिस गये और वहाँ से 'ब्रजभाषा' विषय पर डी० लिट की उपाधि प्राप्त की। हिन्दी साहित्य और भाषा विज्ञान के अध्यापन और साहित्य-चिंतक के रूप में डा० वर्मा अग्रगण्य हैं। पश्चिम के वैज्ञानिक खोजपूर्ण निबंधों की जैसी शैली होती है वैसी ही पुष्ट, सूत्रबद्ध, तथ्य कथन-मात्र-पूर्ण शैली हिन्दी में उन्होंने चलाई है। इस शैली का व्यापक प्रयोग उनके शिष्यों ने खोजपूर्ण निबन्धों में किया है। आज के हिन्दी-संसार में साहित्य-व्यवस्थापक के रूप में डा० वर्मा को शीर्ष स्थान प्राप्त है। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं— हिन्दी भाषा का इतिहास (१९३३) ब्रजभाषा व्याकरण (१९३७) और विचारधारा (१९४१)। प्रस्तुत निबन्ध 'विचारधारा' से लिया गया है। लेख कुछ पुराना है। इसी से श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर को जीवित व्यक्ति की तरह सम्बोधित किया गया है, परन्तु इसमें हिन्दी-विषयक कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं। यही इसकी महत्ता है।

श्री जयशंकर प्रसाद

(१८८९ – १९३७)

ये काशी के प्रसिद्ध सुंघनी साहु के कनिष्ठ पत्र थे। प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही मिली और शीघ्र ही अपने अध्यवसाय से ये संस्कृति, हिन्दी फारसी और अङ्गरेजी के अच्छे ज्ञाता हो गये। परातत्व, प्राचीन संस्कृति और साहित्य इनके प्रिय विषय थे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में प्रसादजी की सेवायें अमूल्य हैं। वे मुख्यतः कवि और नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं, परन्तु शैलीकार निबन्धकार, कथाकार और आलोचक के रूप में भी उनका विशिष्ठ स्थान है। प्रसादजी का साहित्य विस्तत है। कविता क्षेत्र में प्रेमपथिक (१९१२), आँसू (१९२६), झरना (१९३७), लहर (१९३५) और कामायनी (१९०७), कहानी-संग्रह छाया (१९१२), प्रतिध्वनि (१९२६), आकाशदीप (१९२९), आँधी (१९३२) और इंद्रजाल (१९२६), उपन्यास कङ्काल (१९२९), तितली और इरावती (१९३७), जो अपर्ण रह गया, निबन्ध काव्य और कला (१९३९)। वास्तव में इतने विभिन्न पुत्रों में हिन्दी के किसी भी कलाकार ने इतनी उच्च श्रेणी की सामग्री उपस्थित नहीं की। आधुनिक साहित्य की कई प्रवृत्तियों के तो ये जमादाता ही हैं।

प्रस्तुत निबंध में लेखक ने आधुनिक कविता के उस अङ्ग की शास्त्रीय व्याख्या की है जिसे छायावाद नाम से पुकारा जाता है। प्रसाद छायावाद को मुख्यतः लाक्षणिक प्रतीक विद्वानों का काव्य मानते हैं।

श्री नगेन्द्र

उदीयमान समीक्षकों में नगेन्द्र प्रमुख हैं। पिछले वर्ष इन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से 'रीतिसाहित्य और देव' विषय पर खोजपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत कर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की है। आजकल दिल्ली के कमर्शियल कालेज के प्रोफेसर हैं। इनके व्यक्तित्व में गंभीरता और चुहल का आकर्षक सम्मिश्रण है।

इन्होंने अपना साहित्यिक जीवन कवि के रूप में आरम्भ किया। 'वनबाला' (१९३८) इनका कविता-संग्रह है। आलोचना साहित्य में पुस्तकों और लेखों के द्वारा इनकी विशेष ख्याति हुई। इस क्षेत्र में इनकी मुख्य रचनाएँ 'सुमित्रानन्दन पन्त' (१९३८), साकेत—एक अध्ययन (१९४०), आधुनिक हिन्दी नाटक (१९४२) और 'विचार और अनुभूति' (१९४४) हैं। इनकी समीक्षा की वस्तु और शैली पर पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की छाप है।

'हिन्दी उपन्यास' निबंधों में इन्होंने अत्यन्त कलात्मक ढङ्ग से हमारे प्रमुख उपन्यासकारों की विचारधाराओं और सफलताओं-असफलताओं को निरूपित किया है। शैली की दृष्टि से यह निबंध अत्यंत महत्वपूर्ण है। आलोचना जैसे गम्भीर विषय को लेखक कहानी की तरह सरस बना देता है।

टिप्पणियाँ—मूलग्राही प्रश्नावली = ऐसी प्रश्नावली जिसमें साहित्य के मूल प्रश्नों को उपस्थित किया हो, [मानव चरित्र] वाता-

वरण सापेक्ष है = मनुष्य जैसे वातावरण में रहता है, वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है। चरित्र के गुण-दोष ईश्वर प्रदत्त नहीं होते; वास्तव का अंचल = यथार्थता, शरत = बङ्गाल के प्रसिद्ध औपन्यासिक श्री शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, शालोखव = रूस का समसामयिक तरुण उपन्यासकार; फ्रायड = प्रसिद्ध जर्मन मनोवैज्ञानिक जिसने मनुष्य की सारी प्रवृत्तियों की व्याख्या उनकी मूलगत यौवनाकांक्षा के माध्यम से की है।

श्री राय कृष्णदास

(१८९२ ई० —)

ये काशी के एक सम्भ्रान्त घराने से सम्बन्ध रखते हैं। इनकी शिक्षा-दीक्षा स्वयं इनके अध्यवसाय का फल है। इनका पुरातत्त्व और चित्रकला का ऐतिहासिक और तात्विक अध्ययन गहरा है और कला-समीक्षक के रूप में ये देश भर में प्रसिद्ध हैं। काशी का 'कला भवन' इन्हीं की जीवन पर्यंत कला-साधना का प्रतीक है।

हिन्दी साहित्य में इनका प्रवेश 'साधना' (१८१९) के प्रकाशन के साथ हुआ। 'गीतांजलि' से प्रभावित हो गद्य-गीतों की नई शैली इन्होंने चलाई और संलाप (१९२६), प्रवाल (१९२९); छायापथ (१९३०) नाम से गद्य-गीतों के कई संग्रह प्रकाशित किये। 'अंतःपुर का आरम्भ' नर-नारी के मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि लिये प्रागैतिहासिक जीवन की इनकी एक बड़ी सुँदर कहानी है। जयशङ्कर प्रसाद के ये अभिन्न मित्र रहे और कई बातों में दोनों की रुचि और रचना में समानता है।

कविता और कहानी के क्षेत्र में ये इतने ही सफल हैं जितने गद्य गीतों के क्षेत्र में। 'भावुक' (कविता-संग्रह, १६२८) और 'सुधांशु' (कहानी-संग्रह, १९२९) इनकी इन क्षेत्रों की विशिष्ट रचनायें हैं। भारत की चित्र कला और मूर्ति-कला के इतिहास पर इनकी दो महत्वपूर्ण पुस्तकें काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तुत गीतों में लेखक की परोक्षानुभूति और सांकेतिक भाषा का अच्छा उदाहरण मिलता है। जब पाठक यह जान जाता है कि लेखक का सम्बोधन इस संसार के सार-तत्व अथवा इस संसार के परे की परमार्थ सत्ता की ओर है, तो इस सन्दर्भ में उसको बात बात में नया रस मिलने लगता है।

[१] कवि स्वयम् अपने गीतों के सम्बन्ध में कह रहा है। वह परोक्ष सत्ता की अयाचित अनुकम्पा से प्रसन्न हो गीतों में फूट पड़ता है। पद-पल्लवों के प्रहार से अशोक को पल्लवित करने वाली युवती और अशोक वृक्ष, चन्द रत्नाकर (समुद्र, मित्र, सूर्य)—कमल, ऋतुराज पिक और मेघ—मयूर का रूपक लेकर वह ब्रह्म-जीव के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को ही स्पष्ट करता है।

[२] परमार्थ सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण करके ही उसे प्राप्त करना सम्भव है, अन्यथा नहीं। साधक स्वयं अपनी बलि देकर उसे मोल लेता है।

[३] अयाचित ही परोक्ष की अनुभूति प्राप्त होती है। और तब मनुष्य (साधक) दुःख और मृत्यु के प्रति बवंडर के प्रति भी आश्वस्त हो जाता है।

[४] आनन्द आत्मा के भीतर स्थित है, बाहर के पदार्थों में नहीं। इसे खोजने के लिये कहीं जाना नहीं होता।

[५] निष्काम कर्म करके साँझ को मनुष्य आश्वस्त भाव से अपने काम का लेखा जोखा ले और स्वयं को परमात्मा के हाथों में छोड़ दे।

श्री शिवदानसिंह चौहान
(१९१८ ई०)

तरुण साहित्यिकों में शिवदानसिंह चौहान समाजवादी, प्रगतिशील गम्भीर आलोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं। विद्यार्थी-जीवन में ही इनकी अभिरुचि राजनीति की ओर थी। विश्वविद्यालय में पहुँच कर इन्होंने मार्क्सवादी समाज-दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। १९३७ ई० में जब प्रगतिशील आन्दोलन का जन्म हुआ तो ये प्रगतिशील लेखक संघ के सदस्य और सक्रिय कार्य-कर्ता के रूप में आगे आये। मार्क्सवादी मासिक पत्रिका 'प्रभा', साप्ताहिक 'नया हिन्दुस्तान' और प्रेमचन्द के 'हंस' का सम्पादन कर चुके हैं। इस समय बम्बई के द्वैमासिक प्रकाशन 'नया साहित्य' के सम्पादक-मंडल के सदस्य है। प्रगतिवाद के अधिकारी आलोचकों में ये अग्रगण्य हैं।

इनके आलोचनात्मक निबन्ध मासिक पत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं। इनमें से कुछ निबंध 'प्रगतिवाद' शीर्ष से संग्रहीत हुये हैं।

'हिन्दी कविता में पेड़-पौधे फूल पशु-पक्षी' आल इंडिया रेडियो के लिये लिखा हुआ इनका भाषण है। इसमें उन्होंने हिन्दी साहित्य के प्राकृतिक वैभव पर विहंगम दृष्टि डाली है और सामान्यत: प्रकृति की जो उपेक्षा हुई है, उसकी ओर इंगति किया है।

डा० रघुवीरसिंह

ये मध्यभारत (सीतामऊ, मालवा, . के एक प्रतिष्ठित राजघराने से सम्बन्धित हैं । इन्होंने मध्ययुगीन भारत की खोज की है और उसमें इन्हें डाक्टर की उपाधि मिली है इतिहास के ये अच्छे विद्वान हैं । भारत के इतिहास के मुगलकाल को कल्पना और कला द्वारा सजीव बनाने का प्रयत्न इन्होंने किया है और 'शेष स्मृतियाँ' (१९३९) इसी प्रयत्न का फल है । इसमें मुगल-वैभव के पाँच केन्द्रों के सुख-दुख के दिनों को भावुकता द्वारा पकड़ कर चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है । अन्य ग्रन्थ हैं 'मध्यकालीन भारत' (१९३१), बिखरे फूल (१९३३) और 'सप्तदीप' सप्तदीप (१९३८) । भाषाशैली की दृष्टि से 'शेष स्मृतियाँ' और 'सप्तदीप' (१९३८) महत्वपूर्ण रचनायें हैं ।

पाठ्यपुस्तक में जो निबंध संग्रहीत है उसका विषय फतेहपुर सीकरी है जहाँ पहले शेख सलीम की झोपड़ी मात्र थी, परन्तु जहां शेख के व्यक्तित्व और प्रसाद से प्रभावित हो बाद में अकबर ने महान् प्रासाद और वैभवपूर्ण रंगमहल खड़े किये और 'दीनइलाही' का प्रचार करना चाहा । अकबर के जीवन के सारे द्वन्दों को लेखक बड़ी मार्मिकता से उपस्थित कर सका है ।

टिप्पणियाँ—सीकर = जलकण, प्रस्वेदविन्दु, गर्क = डूबे, नूपुर, पैरों का एक आभूषण जो सुहाग चिन्ह के रूप में पहिना जाता है, बिछुआ = एक अस्त्र विशेष जो हाथ की उँगलियों में पहन लिया जाता था और छल से पेट या आँख में चुभो दिया जाता था ।
